वर्ष ३४

धर्म

अंक ९

सितम्बर १९५३

विश्वका सर्वोच्च शिखर
माउंट एभरेस्ट विजेता



शेरपा तेनसिंग

श्रावण २०१०

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
वैदिक धर्म
सहसंपादक
महेशचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके ६॥) रु.

विषयानुक्रमणिका

१ पापके सात कारण	— सम्पादकीय	७१
२ वेदमन्दिर-वृत्त	,,	७१
३ आचार्य मेधावतजी	—श्री सुबोधचन्द्रजी स्नातक	७३
४ भारतीय संस्कृतिका स्वरूप (लेखाङ्क ३९)	—पं. श्री. दा. सातवलेकर	२७७
५ दिव्य जीवन (अध्याय १३)	—श्री अरविन्द	२८१
६ वेदोंद्वारा वेदार्थमें सहायता	—श्री ब्र. उषर्बुधजी	२८८
७ सन ५३ की परीक्षार्थी संख्या	—परीक्षामन्त्री	२९०
८ वेदका श्रीमद् भागवतमें दर्शन (व्याख्यान १२ वां)	—पं. श्री. दा. सातवलेकर	१-१६
९ उषा देवता	,, ,,	१८१-१८८

वर्ष ३४ वैदिक धर्म अंक ९

क्रमांक ५६

▲ श्रावण, विक्रम संवत् २०१०, सितंबर १९५३ ▲

पापके सात कारण

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
अस्ति ज्यायान्कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ॥

ऋ० ७।८६।६

हे (वरुण) परमेश्वर! (सः स्वः दक्षः न) वह अपना आत्मिक बल पापके लिये कारण नहीं होता। पापके कारण ये हैं- (ध्रुतिः) प्रगतिमें रुकावट होना, (सुरा) मद्यका प्रचार, (मन्युः) क्रोध, (विभीदकः) द्यूत, (अचित्तिः) चित्त न लगाकर कार्य करना, (कनीयसः ज्यायान् उपारे अस्ति) नीच पुरुषका श्रेष्ठ स्थानपर आजाना, और (स्वप्नः) सुस्ती वा आलस्य ये सात कारण हैं जिनसे पाप होता है। इस कारण मनुष्य इनसे बचे।

जिनके पास अपना निज आत्मिक बल होता है और दूसरोंपर आश्रित नहीं होना पडता, उससे पाप नहीं होता। पाप होनेके सात कारण हैं, (१) प्रगतिमें विघ्न होना, (२) मद्यका व्यसन, (३) क्रोधका स्वभाव बनना, (४) द्यूतका खेल खेलनेमें रुची होना, (५) मन लगाकर कार्य न करना, (६) नीचको श्रेष्ठ ओहदेपर रखना, और (७) सुस्ती या आलस्य ये सात कारण हैं जिनसे पाप होते हैं। अतः मनुष्य इनसे अपने आपको बचावे और अपना आत्मिक बल अपने अन्दर बढावे। ऐसा करनेसे मनुष्य पापी नहीं होगा।

▲ ▲ ▲

वेदमन्दिर—वृत्त

गतमासमें भी वर्षाधिक्यके कारण 'वेदमन्दिर' की इमारतका कार्य न हो सका, यह वर्षा फसलके लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई है। अब वर्षाके थमनेकी सम्भावना है। वर्षाके थम जानेपर पुनः कार्य आरम्भ हो जाएगा।

वेद मन्दिरके लिये दान देनेवाले सज्जनोंके नाम

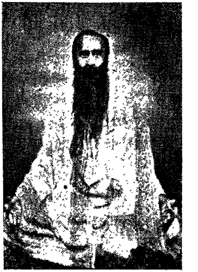
ता. १९-४-५३ तक कुल जमा रु. १००३८-८-०

श्री जीणाभाई हरिभाई दाणावाला एवं अन्य,	गणदेवी	१३१-०-०
,, छोटालाल एफ. हरिभाई द्वारा स्व. मातापिताके स्मरणार्थ	बेरा	१२५-०-०
,, सञ्चालक धी परशुराम पॉटरी वर्क्स	मोरवी	१०१-०-०
,, सेठ नरोत्तमदास जेठालाल भालकिया	अहमदाबाद	१०१-०-०
,, लल्लुभाई हरिभाई उंडाचवाला,	ईस्ट लंडन	१०१-०-०
,, प्राणशंकर छोटालाल कंथारिया	नडियाद	१०१-०-०
,, मोतीलाल मुळजीभाई शाह	,,	१००-०-०
,, रा. ह. जोशी	रत्नागिरी	५१-०-०
,, बापूभाई कुबेरदास पटेल	बोरिया	५०-०-०
,, एम. एन. सर देसाई	बिलीमोरा	२५-०-०
,, विष्णु विश्वनाथ फाटक	बडौदा	२५-०-०
,, जी. बी. माकड	अहमदाबाद	२५-०-०
,, महेन्द्र सी. नाणावटी	,,	२१-०-०
,, आर्य कालीदास माधवजी	बेरा	२०-१३-०
,, दरजी रवजी राघवजी	,,	२०-१३-०
,, दरजी वालजी मेघजी	,,	२०-१३-०
,, जमनादास हरिदास सोजणी	,,	२०-१३-०
,, आर्य हरजी कालिदास	,,	१६-१३-०
,, लालू एन. पटेल	,,	१६-१३-०
,, जीवनभाई एण्ड डाह्यालाल	,,	१६-१३-०
,, छोटालाल वनमाली	,,	१६-१३-०
,, आर्य हरखचंद मोरार	,,	१६-१२-०
,, वनरामन काकूभाई	,,	१६-११-०
,, रघुनाथ लालजी	,,	१६-११-०
,, ती. गोपाळदास	बेरा	१६-११-०
,, आर्य रूपचंद वनजी	,,	१६-११-०
,, नारणजी आर्य तुलसीभाई	,,	१६-११-०
,, रणछोड परागजी परमार	,,	१६-११-०
,, गणपत ईरप्पा	अहमदनगर	११-४-०
,, बाबुराव संतराम सावंत	पूना	११-०-०
,, डी. वी. रेगे	इन्दौर	१०-०-०
,, एक सज्जन	बंबई	१०-०-०
,, हरिश्चन्द्र जीवणजी आर्य	जोहानीसबर्ग	१०-०-०
,, सोनी देवजी गोवन	बेरा	८-६-०
,, भीमभाई भाणाभाई	,,	८-६-०
,, ओधवजी गांडालाल शाह	,,	८-६-०
,, अमरत एण्ड प्रागजीनी कं.	,,	८-६-०
,, वीरचंद देवचंद	,,	८-६-०
,, परशोत्तम ठाकरशी	,,	८-६-०
,, पी. टी. भगत	,,	८-६-०
,, शंकर कृष्ण उपाध्ये	दादर	५-०-०
,, आर. ए. करंदीकर	रत्नागिरी	५-०-०
,, दिगंबर गोविंद मुळे	दादर	५-०-०
,, शंकर रघुनाथ गोखले	,,	५-०-०
,, मुळजीभाई खीमजीभाई सोनी	केरा	५-०-०
,, एक सज्जन	राजकोट	५-०-०
,, भिकाजीपंत बळवंतराय कोपरकर	खंबवा	५-०-०
,, प्रो० माणिकराव विट्ठल क्रिडाभवन	बडौदा	५-०-०
,, भागवत एण्ड कम्पनी	कोल्हापूर	५-०-०
,, वि. ह. माईणकर	सांगली	५-०-०
,, शंकर सं. सर नाइक	पुसद	५-०-०
,, कावाभाई रुखडाभाई पटेल	लोधीका	५-०-०
,, उपेन्द्र गोविंद बडेकर	अहमदनगर	५-०-०
,, एक सद्गृहस्थ	—	३-०-०
,, पुरुषोत्तम गोविंद घोंडसे	बोरगांव मंजु	३-०-०
	कुल योग	११५०८-१२-०

इस सूचीके साथके २० सज्जनोंके नाम आगामी अंकमें प्रकाशित होंगे।

महाकवि आचार्य मेधाव्रतजी

संस्कृत भाषाके आधुनिक कालिदास



आचार्य मेधाव्रतजी ' कविरत्न '

(स्व. सेठ शूरजी वल्लभदासजीकी स्मृतिमें उनके सुपुत्रों द्वारा स्थापित माटुंगाके आर्यसंन्यासाश्रमके आप अभी अभी अध्यक्ष निर्वाचित किये गये हैं ।)

(१) जीवन

आजसे करीब ३०० साल पहिलेकी बात है जब कि गुजरातके खेडा जिलेमें पिंडारोंका उपद्रव चारों ओर फैल चुका था, एक पाटीदार कुटुम्ब अन्य पाटीदारोंके गिरोहके साथ सुरक्षाके लिए सूरत होता हुआ बुरहानपुरकी ओर चल पडा । कुछ लोग बुरहानपुरमें बस गये और कुछ वहाँसे आगे नासिक जिलेके "यवलवाडी" नामक छोटेसे गाँवमें जाकर बस गये। वहाँ ये लोग साहूकारी एवं कृषि द्वारा अपना जीवनयापन करते थे । ऐसे ही एक चुस्त सनातनी वैष्णव धर्मी पटेल कुटुम्बमें श्री जगजीवनदासजीका जन्म हुआ ।'यवलवाडी' का नाम अब "येवला" हो गया था । यह तहसीलका गाँव है । वहाँका कसब, जरीका काम प्राचीन कालमें सुविख्यात था, कालान्तरमें इसका व्यापार, रोजगार खतम होता गया ।

श्री जगजीवनजी मध्यवित्त गृहस्थ थे । धुनके पक्के तथा आचार विचारके अत्यन्त सीधे, सादे, प्रामाणिक आदमी थे और उनकी पत्नी सरस्वतीदेवी भी वास्तवमें बडी धर्म-परायणा एवं कर्तव्यपरायणा आर्य ललना थीं। दम्पतीमें परस्पर अत्यधिक प्रेम था । श्री जगजीवनदासजी अक्सर व्यापार-रोजगारके कार्यसे नासिक जाया करते थे। सनातनी होनेपर भी ये अन्ध-विश्वासी मनोवृत्तिके नहीं थे । अचानक एक बार नासिककी सभामें आपने महर्षि दयानन्दका व्याख्यान सुना और विचारोंमें क्रांति शुरू हुई, फिर तो कहींसे "सत्यार्थ प्रकाश" भी मिल गया और उन्होंने पुरानी रूढियोंसे मोरचा लेनेकी ठानी। श्री सरस्वतीदेवी भी इन विचारोंके प्रति आकर्षित हुयीं और येवलामें आर्य-समाजका संगठन शुरू हुआ।

इनको चार संतानें थीं । दो पुत्रियां एवं दो पुत्र । आर्य होनेसे पूर्व बडी पुत्रीका तो बिरादरीमें ही ब्याह हो चुका था; परन्तु अब बाकी तीनोंको आर्य शिक्षामें रंगनेका संकल्प कर कविराज श्री मेधाव्रतजी तथा श्री पं. सत्यव्रत-जीको तत्कालीन भारतके प्रथम गुरुकुल सिकन्दराबादमें भर्ती करवा दिया । भला ऐसे सुयोग्य पिताकी संतान भी सुयोग्य हो तो आश्चर्य ही क्या ! उन दिनों स्व. स्वामी नित्यानंदजी महाराज एवं स्व. पं बालकृष्णजीका दौरा येवला आर्यसमाजमें रहता ही था, उन्हींके संपर्कसे माता सरस्वती-देवीने भी बालकोंको गुरुकुल भेजनेमें आनाकानी नहीं की । बादमें सिकन्दराबादका गुरुकुल वृन्दावन चला गया। वे वहीं १२ साल तक पढते रहे । पुत्री जानकीदेवी हाथ-रसमें पढती रहीं।

आजकलके आर्य-समाजियोंकी तरह श्री जगजीवनजी नामधारी आर्यसमाजी नहीं थे परन्तु सच्चे 'आर्य' थे। आर्यसमाजका तत्कालीन संपूर्ण साहित्य पचा चुके थे। नियमित स्वाध्याय, हवन आदि आर्योचित कर्त्तव्योंको अवश्य पालते थे । माता सरस्वतीदेवीका मृत्युकाल समीप आया। मरते समय आर्य-माताने कहा कि मेरे पीछे बारहवाँ (प्रेत भोजन) न देवें । जगजीवनजीने वैसा ही किया । बिरादरीका कोप उबल पडा परन्तु उन्होंने मचक

न दी। रिश्तेदार मुकर गये, नाता तोड दिया परन्तु वे हिम्मत न हारे। उन दिनोंकी बिरादरीका मोरचा लेना आसान बात न थी; परन्तु ये कच्चे शिक्षाधारी न थे।

पुत्री जानकीदेवीकी शादीका प्रसंग आया तो वे किसी की परवाह किये बिना जातपाँत तोडकर आंतर्प्रान्तीय शादी के लिए तैयार हो गये और वृन्दावन गुरुकुलके मुख्याध्यापक पं. शंकरदेव पाठक 'काव्यतीर्थ' से शादी कर दी।

श्री मेधाव्रतजीको बचपनसे ही कविताका रस पैदा हुआ था, गुरुकुलमें भर्ती होकर संस्कृत भाषापर उन्होंने अपना काबू जमा लिया परन्तु स्वास्थ्यकी खराबीके कारण स्नातक होनेसे पूर्व ही पढना छोड दिया। आपने अपने विद्यार्थी जीवनमें अपने स्वभावकी सरलता एवं बुद्धिकी प्रखरताके कारण अपने सहाध्यायियों और गुरुवर्गका प्रेम तथा सम्मान प्राप्त कर लिया था। प्राथमिक शिक्षा येवलामें हुई, वहाँ भी १३ वर्षकी छोटी उम्रमें ही फाइनल और अंग्रेजी ५ वीं कक्षा उत्तीर्ण हो गये। आपका जन्म ७ जनवरी १९९३ में हुआ था। मा बापके पवित्र संकल्प एवं आचरणोंका प्रभाव इनपर खूब ही पडा। उन दिनों दसवीं श्रेणितकमें ही गुरुकुलका विद्यार्थी संस्कृत शब्द समूहपर संपूर्ण प्रभुत्व जमा लेता था। इसी कारण इनकी रुचिके अनुकूल ये भी संस्कृत भाषापर असाधारण काबू रखने लगे। इस समयके आपके पद्योंमें भी कोई अनावश्यक शब्द नहीं फटक पाता। इन्हें प्रकृतिसे स्वाभाविक प्रेम था। प्राकृतिक सौन्दर्यका सुन्दर शब्दचित्र खींचनेमें इनके जैसी निपुणता, प्राणप्रतिष्ठा, इतनी शीघ्रतासे अर्वाचीन जमानेमें शायद ही कोई कर सकता होगा। गुरुकुलका आपका जीवन अजातशत्रुकी तरह बीता। आपका सुरीलाकंठ आपकी काव्य-रचनाको सोनेमें सुहागा प्रदान करता है। सुप्रसिद्ध विचारक डॉ. भगवानदासजी भी आपसे बडे प्रसन्न थे। परिषदों-सभाओंमें समस्यापूर्तिपर आपका नंबर प्रथम ही रहता था।

गुरुकुल जीवनमें ही आपने 'प्रकृति सौन्दर्यम्' नाटक लिखा तथा 'ब्रह्मचर्य शतकम्' की रचना की थी। ये दोनों रचनायें उस समय संस्थाकी ओरसे छपी थीं।

गुरुकुल प्रवेशके पूर्व एक ऐसी घटना घटी कि एक धनीमानी पिताकी एक ही पुत्री थी, वे पं. मेधाव्रतजीसे अपनी पुत्रीकी शादी करके एक लाखकी संपत्ति प्रदान करना चाहते थे परन्तु पिता जगजीवनजी कर्मठ आर्य थे, उन्होंने बाल्यावस्थामें विवाह अस्वीकृत कर दिया। कन्याके पिताने इनकी माताका मन भापा और प्रस्ताव रखा। माता तो पुत्रवधूके रूप-शीलसे मुग्ध हुई परन्तु पं. मेधाव्रतजीने आर्यादर्शसे विपरीत बताकर इन्कार कर दिया।

'गुरुकुल छोडनेपर आपके पिताजीकी इच्छा थी कि एक "काव्यकुटीर" बनाकर रात्रिदीवा सरस्वतीकी ही उपासना की जाये। शांतिसे बैठकर वेदवेदांगादि शास्त्रोंका स्वाध्याय करनेकी भी इच्छा थी परन्तु जमानेकी चक्कीने किसे छोडा है, लोगोंने भी कहा कि आपको समाज-सेवामें अपने ज्ञानका दान देना चाहिये। आखिरकार सर्वप्रथम आपको कोल्हापुर राज्यमें वैदिक विद्यालयके अध्यक्षका कार्य सौंपा गया। आपने सुचारू रूपसे इसे निभाया। कुछ काल बाद स्वास्थ्य बिगडनेसे यह कार्य छोड दिया। कुछ दिनों बाद आप सूरतमें राष्ट्रीय आंदोलनके समय 'राष्ट्रीय महाविद्यालय' में संस्कृतके प्रोफेसर नियुक्त हुए। प्रोफेसरी करनेके बाद आपका ध्यान कन्या-शिक्षणकी ओर गया। आप मानते हैं कि जबतक स्त्री जातिमें भारतीय-संस्कृतिका प्रचार नहीं होता तबतक भारतका उद्धार नहीं हो सकता। आपका प्रेम आबाल, वृद्धके साथ समान होता है।

कुछ समय बाद आप बडौदा आर्यकन्या विद्यालयके आचार्य बने। आपमें अभिमानकी मात्रा कतई नहीं थी; अतः छात्राओंमें, अध्यापकोंमें आप लोकप्रिय बन चुके थे। आप हमेशा छात्राओंको बेटा कहकर ही पुकारते थे। आपका द्वादश वर्षीय यह काल उज्वल रहा, कन्याशिक्षण-यज्ञके द्वारा इन्होंने अपना व्यापक प्रभाव गुजरातभरमें फैला दिया। आपकी शिष्यायें आपका बडे सम्मानसे आज भी उतना ही आदर करती हैं।

आपका विवाह येवलानिवासी श्रीमान् एकनाथजी (स्वामी भजनानंदजी) की विदुषी पुत्री श्री चन्द्रप्रभादेवी के साथ हुआ था। देवीजी जैसे बाह्य रूपमें सुन्दर थीं वैसे ही उनका हृदय भी बडा पवित्र और सुन्दर था। आप जालन्धर कन्यागुरुकुलमें पढी थीं। पतिपरायणा देवीजीने हँसते हँसते अपने आभूषण स्वयं निकालकर पतिके हाथोंमें रख दिये जब कि कविरत्नजी "कुमुदिनीचन्द्र" छपवा रहे थे और छपाईके कारण काम अटक जानेवाला था। इतना सुखमय जीवन दैवको सह्य न हुआ और सात-आठ सालके बाद सौ. चन्द्रप्रभादेवी प्रसूतावस्थामें स्वर्गवासिनी हो गईं।

दयानन्द जन्म शताब्दि समीप थी। पत्नी प्रसव अवस्था में बेसुध पड़ी थीं। नवजात शिशु भी दूध न मिलनेसे मरणासन्न दीख रहा था। पास ही कविरत्नजी सेवामें तत्पर बैठे रहते थे। पत्र आया– गुरुका आदेश था कि 'गंगा लहरी' के ढंगका देववाणीमें काव्य चाहिये। गुरु दयानंदकी स्मृतिमें इतना करो। पत्र पढ़ते ही विचारमें पड़ गये कि क्या करूं? ऐसी विपन्नावस्थामें भी टूटी फूटी कविता करने बैठ जाते, आखिर काव्यकी माँग आई 'दयानंद लहरी' भेज दी। सबकी रचनाओंमें कविरत्नजीकी ही रचना पसंद की गई। आज भी वह विद्वानोंमें आदरणीय है।

कविरत्नजीके पिता अपने दोनों पुत्रोंको गृहाश्रममें प्रविष्ट करवाकर निवृत्त हो चुके थे। आश्रम व्यवस्थानुसार अब उन्हें वैराग्योन्मुख होना चाहिये था। संसारमें उन्हें आसक्ति रह भी नहीं गई थी। एक दिन वे "स्वामी नित्यानंदजी" बन गये। मथुरा जाकर कुछ काल रहे और बादमें हरिद्वार ऋषिकेशकी ओर योगाभ्यास करते रहे परन्तु कुछ कालके बाद वे कहाँ अन्तर्धान हो गये? आजतक मालूम नहीं पड़ा।

कविरत्नजीकी प्रथम पत्नीके अवसानसे उनको सुखमय संसारसे कुछ विरक्ति ही हो गई थी; तो भी मित्रोंके आग्रहवश तथा कन्याशिक्षणके आदर्श यज्ञकी सहधर्मिणीकी पूर्तिके लिए उन्होंने दूसरा ब्याह भी किया परन्तु सौ. सुलोचनादेवी इस यज्ञको निभानेमें असमर्थ सिद्ध हुई। पाश्चात्य शिक्षणकी प्रचण्ड वायुसे आर्य आदर्श गृहस्थाश्रम ढह गया। कविने इसीमें अपने मनको संतोष दिलाकर कन्या शिक्षण यज्ञकी समाप्ति की। यहीं बड़ौदेमें "दयानन्द दिग्विजय महाकाव्य" बना।

आज तबसे ही कविरत्नजी अपने जन्मस्थान येवलाके समीप नान्दूर ग्राम और कुसुर ग्राममें दिव्यकुंज आश्रम बनाकर वानप्रस्थावस्था बिता रहे हैं। समय समय पर भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें वैदिकधर्मका प्रचार करते हैं और बाकी समय अपने छोटे भाई पं. सत्यव्रतजीके साथ वेदाभ्यास और साधनामें बिताते हैं। अपने अनुज-संतानोंको ही पुत्र तुल्य मानकर जीवन्मुक्त बननेको उद्यत हैं। समय समय पर अनेक संस्कृतमय गद्य-पद्य लिखकर सुरभारतीकी सेवा करते रहते हैं।

(२) काव्य–समालोचन

आचार्य पं. मेधाव्रतजी कविरत्नको अर्वाचीन युगका कालिदास या भवभूति कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। जैसे ही कविका जीवन महत्वपूर्ण होता है उससे भी कहीं अधिक उसकी रचनाएँ महत्वपूर्ण होती हैं अतः अब उनकी रचनाओंके बारेमें कुछ लिखना अनुचित न होगा।

कविरत्नजीकी रचनाओंको स्थूलतया चार विभागोंमें बाँट सकते हैं। (१) बाल्य कृतियाँ (२) प्रौढ कृतियाँ (३) प्रकीर्ण कृतियाँ (४) हिन्दी रचनायें। पद्य प्रवाहपर स्वाभाविक अधिकार होनेसे संस्कृत पद्य रचनाकी ओर विशेष रुचि रही और वह भी शृंगार या ईश्वर प्रार्थनाकी तुकबंदीमें नहीं परन्तु प्राकृतिक सौंदर्यकी ओर ही रुचि रही। बाल्यकालमें प्रकृतिकी ओर ध्यान जाना और उनमें हृदयकी अनुभूतियोंको भरना इनके प्रकृति प्रेमका द्योतक है। इसी लिए इनकी प्रथम रचनाओंमें "प्रकृति सौंदर्यम्" ही स्थान पा सका। यह जन्म-जात गुण है; क्योंकि इनकी रचनाओंमें ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। देखिए—

गवां कदम्बं क्वचिदागमालो, गोपालबाला
उपवेश्य भूमौ। ते वात्यया तत्र निपातितानि,
जम्बून्यदन्ति प्रमुदा समूह्य ॥ १ ॥
क्वचिन्मृगाली चरति द्रुमेषु, सुताण्डवं ही
कुरुते शिखण्डी। शाखाभ्य एते कपयो व्रजन्ति, क्वचिद् द्रुमाणां फलनम्रशाखाः ॥ २ ॥

चरवाहे पेड़ोंके नीचे गोरुओंको बैठाकर हवाके झोंकेसे गिरे हुए जामुनके फलोंको सानन्द खा रहे हैं ॥ १ ॥ कहीं कहीं हिरनियोंकी टोली चरती हैं, कहीं मोर नाचते हैं, कहीं बन्दर फलसे लची एक डालीसे दूसरी डालीपर कूदते हैं।

कविरत्नजीकी कवितामें प्रसाद गुण अधिक मात्रामें प्राप्त है। और यह गुण भाषापर संपूर्ण प्रभुत्व होने पर ही मिल सकता है। 'उपमा' पर भी इनका पूर्ण काबू है। देखिये–

कादम्बिनीमध्यलसत्पिशङ्गः सौदामिनीनां
ततिरम्बरान्तः। भुजङ्गमीनां रसनावलीव,
लोला चमत्कारमियं तनोति ॥

काले काले बादलोंमें सांपिनकी जीभके समान बिजली चमकती प्रतीत होती है। कितना सजीव वर्णन है। बाल्य कृतियोंमें 'देशोन्नति काव्य" "ब्रह्मचर्य शतकम्"

"सरस्वती-स्तवनम्" "सदाचारी बालक" आदि अप्रकट रचनायें हैं। जो सामयिकोंमें प्रगट हो चुकी हैं।

प्रौढ रचनाओंमें 'दयानन्द लहरी' एवं 'कुमुदिनी-चंद्र' को ले सकते हैं तथा महाकाव्य "दयानन्द दिग्विजयम्" इस कालका प्रमुख ग्रंथ है जिसने उन्हें महाकविकी पदवी प्रदान की है। देखिये 'दयानन्द लहरी' का स्वाभाविक वर्णन। इसमें स्वामीजीको न तो अवतार ही बताया और न भाट की भाँति स्तुति ही की। जो वास्तविकता थी वही शब्द-सेनाके साथ दिग्दर्शन कराया--

भवाम्भोधौ भीमे विपुल विपदुत्तुङ्गतरल,
प्रचण्डोर्मिव्रातैर्विहतवपुषां व्याधिमकरैः।
नृणामुद्धर्तारं निजसदुपदेशौषधवरैः,
समर्थस्त्वं स्तोतुं प्रचरमगदङ्कारमिह कः॥

इस स्तुतिमें केवल स्वाभाविक भक्तिका ही निदर्शन मात्र है।

दूसरी प्रख्यात रचना 'कुमुदिनीचन्द्र' उपन्यास है जिसमें कोमलकान्त पदावली मनको हरण कर लेती है। और आधुनिक ढंगके उपन्यासकी पूर्ति करती है। संस्कृत साहित्यमें ऐसी कृतियोंका सर्वथा अभाव है। मानव हृदयके भावोंको वैज्ञानिक चरित्र चित्रणके रूपमें सरल शैलीमें रखते बनना बडा कठिन कार्य होता है। कविरत्नजीने इस कृतिसे संस्कृत भाषा साहित्यमें चार चांद लगा दिये हैं। देखिये इसका प्रारंभ—

मासोऽयं चैत्रः। भगवान् भुवनभास्करः प्रखरकिरणैर्जर्जरयन्निवाखिलं भूवलयं गगनवेदिकामारुरोह। रविकिरणानलदन्दह्यमानतनव इव वायवः परितः सरिदभिषिक्तनिबिडतरुवररुचिरतरं विपिनमवजगाहिरे।

इतनी सरल सुललित पदावलीका अन्यत्र मिलना कठिन है। इसकी १६ कलायें सचमुच चन्द्रकी कला जैसी ही कमनीय हैं। चैत्र मासका स्वाभाविक वर्णन किया गया है।

तीसरी अद्यतन रचना महाकाव्य "दयानन्द दिग्विजय" है। जो २४ सर्गोंमें दो भागोंमें है। इसका भी नमूना देखिये-

गुरु स्वामी विरजानन्दजीको गुरु दक्षिणा देते हुए दयानन्दके मुखसे क्या ही सुंदर उत्तर दिलवाया है।

समर्पितं श्रीचरणे स्वजीवनं
नियोज्यमेनं विनियोजयेद् यथा।
वरंवदोऽयं प्रयतिष्यते तथा,
विचारणीया न गुरोर्निदेशना॥

आज्ञांकित शिष्य स्वजीवन आपके चरणोंमें देता है, आप इसे चाहे जिस काममें लगा देवें क्योंकि गुरु आज्ञाका विचार ही नहीं करना चाहिये। सरलवाणीमें क्या ही सुंदर सूक्ति भरकर गुरुको प्रसन्न करना चाहा है। टंकारा (सौराष्ट्र) ऋषिकी जन्मभूमि थी, उसका वर्णन देखिये—

अयोध्या रामचन्द्रेण, मथुरा श्रीमुरारिणा।
विश्ववन्द्या यथा पूता, टङ्कारापूर्महर्षिणा॥

कितनी सात्विक उपमा दी है। टंकाराको इससे अधिक गौरव और क्या चाहिये?

कविरत्नजीने इसके अतिरिक्त अपनी प्रौढ रचनाओंमें सत्यार्थ प्रकाशके कई समुल्लासोंका संस्कृतमें अनुवाद भी किया था।

संगीत भी इनका प्रिय विषय होनेसे कन्याओंके शिक्षणार्थ 'दिव्य संगीतामृत' की भी रचना शास्त्रीय ढंग पर की थी। यह हिन्दीमें है।

फिलहाल कुसुरके दिव्यकुंजवाले आश्रममें बैठकर 'ईशोपनिषत्काव्य' 'नारायणस्वामिचरितम्' तथा अनेक महात्माओंके जीवन चरित्र संस्कृतमें लिखे हैं। इनकी हिन्दी रचनाओंमें "गिरिराज गौरव" काव्य और 'रुक्मिणी हरण' नाटक है। संस्कृतमें आधुनिक रागोंमें 'गरबा' आदि भी लिखनेकी क्षमता है। देखिये "गरबे" का नमूना—

मदयन्ती सुरहृदयसर इयं, गैर्वाणी-वाणी।
वेदाम्बरमणिरश्मि विलसिता,
सुरमुनिवरविनुता—सा गैर्वाणी-वाणी। मद०

"देववाणी" संस्कृतकी वन्दना गुजराती गरबेके राग पर क्या सुन्दर बन पडी है। आजके अंग्रेजीके जमानेमें संस्कृतकी संस्कृतिको जो समझेगा वही भारतीय संस्कृतिको सच्चे अर्थोंमें समझ सकेगा। भावी नागरिकोंसे राष्ट्रभाषा हिन्दीके जमानेमें ऐसे ग्रंथोंकी कद्र करनेकी आशा रखते हैं।

भारतका यह सौभाग्य है कि आज भी भारतमें ऐसे सुकवि संस्कृतके भक्त मौजूद हैं, इसीसे भारती गौरवान्वित है।

जयन्ति तो ते रससिद्धा कवीश्वराः
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥

लेखक- श्रो. सुबोधचन्द्रजी स्नातक विद्यालङ्कृत

भारतीय संस्कृतिका स्वरूप

[लेखाङ्क ३९]

लेखक— पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विश्वसेवाके लिये राज्यशासन

अबतकके विवेचनसे पाठकोंके ध्यानमें यह बात आ चुकी होगी कि बौद्धधर्म संसारका त्याग करके व्यक्तिकी उन्नति साधनेका प्रयत्न करता है। प्रत्येक व्यक्ति भिन्न, एकका दूसरेसे कोई सम्बन्ध नहीं, विश्व दुःखमय होनेके कारण त्याज्य है आदि मन्तव्य बौद्धधर्मके हैं। ईसाई धर्म भी इसी प्रकारका है और वर्तमान हिन्दुधर्मका स्वरूप भी इसीसे मिलता जुलता बन गया है।

किन्तु वैदिक धर्मका दृष्टिकोण इन सबसे सर्वथा भिन्न है। समस्त विश्व ब्रह्मका स्वरूप है, यहाँ और कुछ भी नहीं है, प्रत्येक व्यक्तिके अस्तित्वको भिन्न भिन्न मानना अज्ञान है, समस्त प्राणी विश्वरूपमें ही सम्मिलित है, किसीको भी इससे पृथक् करना सम्भव नहीं है और सबका मिलकर एक जीवन है। इन सब बातोंको समझकर स्वकर्मसे विश्व सेवा करते हुए विश्वरूपकी प्रसन्नताको बढाना और इसके लिये सर्वभूत-हित-साधनकी योजनायें तैयार करना एवं उन्हें सफल बनाना आदि अनुष्ठानका उपदेश करनेवाला वैदिक धर्म है।

विश्वको त्याज्य सिद्ध करनेवाला तत्वज्ञान मनुष्यका सम्बन्ध विश्वसे तोड देता है तथा विश्वरूपको संसेव्य मानने-वाला तत्वज्ञान विश्वरूपकी प्रसन्नता बढानेमें सहायता करता है। यदि यह बात पाठक समझ लें तो वे यह भलि-भांति जान सकते हैं कि भारतको गत दो हजार वर्षोंसे संसार-त्यागका जो रोग लगा है वह बौद्ध-धर्मके प्रसारके कारण ही लगा है तथा यही उसकी निर्बलताका मुख्य कारण है।

अब हमें यह देखना है कि इस तत्वज्ञानके आधारपर जो व्यवहार होने लगा वह किस प्रकारका रहा। बुद्धने प्राप्त राज्यका त्याग अपने सिद्धान्तके लिये किया, अशोकके युवराजने भी राज्यका परित्याग किया और भिक्षु बना। अशोकका जो तेज सम्राट्के समय था वह बौद्ध धर्म स्वीका-रनेपर नहीं रहा। राज्य-त्यागकी आवश्यकता क्यों अनुभव की जाय? राज्य-त्यागकी बुद्धि उत्पन्न होनेका एकमात्र कारण यही दीखता है कि यह समस्त विश्व दुखदायी मान लेना। जब ऐसी मान्यता हो गई तो फिर 'उसके पीछे क्यों पडा जाय' यही विचार या बुद्धि उत्पन्न होगी। नश्वर एवं दुःखमूलक जो कुछ भी होगा वह त्यागना चाहिये तथा शाश्वत एवं सुखदायी जो कुछ होगा वह स्वीकारना चाहिये, यही सयुक्तिक प्रतीत होता है।

बुद्धकालीन एवं बुद्धोत्तरकालीन भारतीयोंकी प्रवृत्ति संसार-त्याग एवं राज्य-त्यागकी ओर जो हुई उसका मूल कारण एकमात्र यही है।

इसके विपरीत वैदिक धर्मानुयायी राजा लोग राज्य करते हैं। जनक, रामचन्द्र, मनु आदि अनेक राजा हैं, जिन्होंने राज्य किया है। इसका कारण यह है कि ये सब 'विश्वसेवा स्वकर्मद्वारा करनी चाहिये' इस बातको माननेवाले थे। राजा ही सबसे अधिक विश्व-सेवा कर सकनेमें समर्थ हो सकता है। अपने उत्तम राज्य शासन-प्रबन्ध द्वारा वह सम्पूर्ण राज्यके मानवोंका उत्तम कल्याण साध सकता है। किसी भी साधारण मनुष्यकी अपेक्षा राजा राष्ट्रका अधिक कल्याण कर सकता है। इस बातको विशेष स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं है। राजा सबसे बडा विश्व-सेवक होता है। यदि वह उत्तम राज्यशासन करे तो यही उसके लिये सर्व भूतहितरत होनेका श्रेष्ठ साधन है।

बुद्ध धर्ममें समस्त विश्व ही दुःखका कारण होनेसे तथा संसार स्वभावतः दुःखमय होनेके कारण त्रासदायक अतएव त्याज्य माना गया है। वैदिक धर्ममें ऐसा है ही नहीं। क्योंकि यह तो विश्वको साक्षात् परमेश्वरका ही रूप मानता है। अतएव उसके लिये वह संसेव्य है, आदरणीय है एवं

कृतकृत्य होनेका एक साधन है। जो अपने 'ाव्यको ईश्वरका रूप मानेगा वह उसका त्याग कैसे करेगा? अपितु वह तो उसकी उत्तम एवं निर्दोषरूपेण सेवा करेगा।

वैदिककालके ऋषि राज्यशासनको ईश्वरोपासनाका सर्वश्रेष्ठ साधन मानते थे।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।
(गीता)

अपने कर्मद्वारा इस विश्वात्माकी, इस राष्ट्रकी सेवा करनी है। यही सेवा साधकका तारण कर सकती है। यहाँपर इस बातका विचार होना चाहिये कि 'स्वधर्मका अर्थ क्या है?' राष्ट्रमें ज्ञानी, शूर, व्यापारी और कर्मचारी इस प्रकारसे चार कोटिके मनुष्य रहते हैं। जो ज्ञानी हों वे ज्ञानप्रचार द्वारा, जो शूर हों वे राष्ट्र-संरक्षण द्वारा, जो व्यापारी एवं किसान हों वे अपने व्यवसाय योग्यरूपेण करके तथा कर्मचारी अपनी कारीगरी द्वारा विश्वात्माकी सेवा कर सकते हैं। मनुष्यमात्रको अपनी अपनी योग्यतानुसार सर्वजनहितार्थ ईश्वरकी सेवा इस प्रकार करनी चाहिये।

ज्ञानप्रसार, संरक्षण, व्यापार, उद्यम एवं सुखसाधनके निर्माण द्वारा जब जन-सेवा होगी तभी सबका जीवन सुखमय होगा तथा सबकी प्रसन्नता भी अभिवृद्ध होगी। यह सेवा जितनी कम होगी उतनी ही विपत्ति बढेगी। विपत्ति बढनेका कारण ही यह है कि यह सेवा जैसी चाहिये वैसी नहीं हो रही है।

जो लोग इस विश्वको दुःखरूप मानकर त्यागनेका विचार करते हैं वे उस दुःखरूप विश्वमें ज्ञानप्रसार, संरक्षण, सुख साधनोंका निर्माण और कारीगिरीकी उन्नति भला किस लिये करने लगे? किन्तु जो यह मानते होंगे कि यह विश्व ही परमेश्वरका प्रत्यक्ष स्वरूप है वे अपने ईश्वरको प्रसन्न रखनेके लिये अपनी पूरी शक्ति लगा देंगे। वैदिक धर्मका ईश्वर इस प्रकार प्रत्यक्ष विश्वरूप ही है। यह विश्व तो हमारे चारों ओर है। हम उसके मध्यमें हैं और वह हमारे बीचमें है। वैदिक ऋषि इस प्रत्यक्ष ईश्वरसे अपना व्यवहार किया करते थे। आज भी समस्त मानव उसी ईश्वरके साथ अपना व्यवहार कर रहे हैं; किन्तु उन्हें इस बातका भान नहीं है कि हम ईश्वरके साथ व्यवहार कर रहे हैं। बुद्धकी अज्ञानपूर्ण शिक्षाओंके कारण आजके लोग ऐसा समझ रहे हैं कि यह विश्व हमसे भिन्न है तथा इसका परित्याग किये बिना हमारी उन्नति सम्भव ही नहीं है। ये लोग तो प्रत्यक्ष ईश्वरका ही परित्याग कर देना चाहते हैं और उन्नत भी होना चाहते हैं!

किन्तु यह किस प्रकार सिद्ध हो? ईश्वर इस विश्वरूपमें हमारे सामने है। उसकी ओर तुच्छतासे देखा जावे, उसकी सेवा न की जावे तथा उन्नतिकी इच्छा रखी जावे, यह सब कितना वैषम्य है? बुद्ध धर्मके इस अज्ञानके प्रसारके कारण हम लोग कितने भटक गये हैं, इसका आज हमें गंभीरता पूर्वक विचार करना चाहिये।

ब्राह्मणः अस्य मुखं, बाहू राजन्यः, ऊरू वैश्यः,
पद्भ्यां शूद्रः॥ तस्मादश्वा अजायन्त, गावः
तस्माज्जज्ञिरे॥ तस्माज्जाता अजावयः।
ऋग्वेद १०।२०

'इस ईश्वरका मुख ज्ञानी है, इसके बाहू वीर पुरुष हैं, किसान इसके ऊरू है तथा कारागीर इसके पैर हैं। घोडे, गाय, भेड, बकरी आदि इसके शरीरसे उत्पन्न हुए हैं।' इस प्रकार यह विश्वपुरुष मानवोंका उपास्य है। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति, पर्वत, नदियां आदि सब इसीके स्वरूप हैं। यह विश्वरूप इसी ईश्वरका स्वरूप है।

यह विश्वरूप प्रत्यक्ष दिखाई पड रहा है। यह सम्पूर्ण विश्व उसी ईश्वरका स्वरूप है। अखण्ड भावनासे इसकी सेवा करना ही ईश्वरपूजा है। हम अन्य मनुष्योंसे, पशु-पक्षियोंसे, वृक्ष वनस्पतियोंसे, भूमि, पर्वत, नदी आदिसे आदरपूर्ण भावनासे व्यवहार कर रहे हैं अथवा इनकी ओर तुच्छतापूर्वक व्यवहार कर रहे हैं, इसका विचार पाठकगण स्वयंका आचरण देखकर करें। ऐसा करनेपर उन्हें विदित हो जाएगा कि जैसा ईश्वरके साथ हमारा आचरण होना चाहिये वैसा विश्वके साथ नहीं है। परमेश्वरके साथ जितने आदरके साथ हमें व्यवहार करना चाहिये उतने आदरके साथ हम विश्वकी वस्तुओंके साथ व्यवहार नहीं करते। इसीलिये विश्वरूपी परमेश्वर हमपर प्रसन्न नहीं होता। हम विश्वको त्यागना चाहते हैं, हम उसकी सेवा नहीं करते! बिना सेवा किये वह किस प्रकार प्रसन्न हो सकता है? और यदि प्रसन्न हो भी गया तो हमें उस प्रसन्नताका आनन्द भला किस प्रकार मिल सकता है?

यही तत्वज्ञान हमारे व्यवहारमें समरस हो जानेके कारण उसका क्या परिणाम हुआ है? इस प्रश्नपर विचार करना चाहिये। आज हम देख रहे हैं कि राजा-प्रजा, अधिकारी-सेवक, धनी-निर्धन, ज्ञानी-अज्ञानी, प्रगतिशील-पिछडे हुए, मालिक-मजदूर, नागरिक-ग्रामीण आदि भेद हुए हुए हैं और इनका पारस्परिक व्यवहार ठीक न होनेके कारण बडे बडे अनर्थकारी परिणाम होते जा रहे हैं। इसका एकमात्र यही प्रतिकार है कि 'समस्त विश्वका मिलकर एक अभिन्न जीवन है' इस प्रकारकी शिक्षा सर्वत्र फैलाकर उसे व्यवहारिक स्वरूप दिया जाय। इसीके लिये 'समुद्रतक फैली पृथ्वीपर एक आर्य राजा हो और उस पृथ्वीपर एक ही वैदिक शासन पद्धति रहे, ऐसी घोषणा वैदिककालके ऋषियोंने असंदिग्ध रूपसे की थी।

अब हम यह देखेंगे कि उपर्युक्त द्वन्द्वोंमें यदि निर्द्वन्द्व व्यवहार हो सके तो क्या होगा? तथा जो कुछ होगा वह सुखदायी होगा अथवा नहीं? उदाहरणार्थ 'राजा-प्रजा' के द्वन्द्वको लीजिये। आज राजा और प्रजामें शत्रुता है। इसमेंसे प्रत्येक कहता है कि दूसरा मेरा भक्ष्य है तथा मैं उसे लूटकर सुखी हो सकता हूँ। शासकपक्ष एवं शासितपक्षमें यह द्वन्द्व जारी है। किसी देशमें प्रत्यक्षतः कोई राजा हो या न हो; किन्तु राज्यशासन चलानेवाला कोई न कोई पक्ष अवश्य होता है। उसके मनमें यही एक बात रहती है कि मेरा ही पक्ष सतत अधिकारूढ रहे तथा दूसरा कोई पक्ष ऊपर न उठ सके। एतदर्थ अनेक प्रकारके कानून बनाये जाते हैं तथा दूसरे भी अनेक उपायों द्वारा विरुद्ध विचार-सरणीको दबा दिया जाता है और इस प्रकार राजसत्ता अपने ही हाथमें रखी जाती है। दूसरे पक्षवाले भी यही कहा करते हैं और इसी कारण आज अनेक प्रकारके युद्ध जारी हैं तथा वे बढ रहे हैं।

ऐसे अवसरपर यदि हम वेदोंके अनुसार बर्तनेका निश्चय कर लें तथा 'शासक एवं शासितोंका जीवन एक है' इस बातको समझ लें तथा 'एक ही जीवनके ये दो पहलू हैं' इस प्रकार तत्त्वतः मानने लग जांय तो यह बात स्वभावतः सिद्ध हो जाएगी कि 'एक जीवनके विभिन्न घटकोंको परस्पर सहायक ही होना चाहिये।' इस प्रकार परस्पर सहायक होनेका विचार बलवत्तर होगा तथा उसी प्रमाणसे पारस्परिक वैरभाव दूर होगा।

राष्ट्रमें आज जो शिक्षा प्रचलित है उसके द्वारा मनके ऊपर यह बात अंकित की जाती है कि वास्तवमें प्रत्येक व्यक्ति भिन्न भिन्न है। कायदे-कानून भी इसी मन्तव्यके अनुसार हैं। किन्तु इसके विपरीत यदि जनता यह समझे कि समस्त विश्वका एक अभिन्न जीवन है; समस्त विश्वरूप एक विश्वात्माका ही प्रतिबिंब है तो उससे उसे सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। सम्पूर्ण जनताका रहन-सहन भी इसी सिद्धान्तके अनुसार बन जाना चाहिये। आजकी अशान्ति दूर होनेका यही एकमात्र उपाय है।

हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति भिन्न भिन्न होनेपर भी एक कुटुम्बमें एकात्मता रहती है। एक जातीमें, एक धर्मके लोगोंमें तथा एक देशके लोगोंमें एकात्मता रह सकती है। प्रत्येक व्यक्तिकी भिन्नता दिखाई देनेपर भी कुटुम्ब, जाती धर्म और देशवासियोंमें एकात्मता रहती हुई दिखाई देती है। किन्तु यह केवल व्यवहारमें ऊपरसे दिखाई पडनेवाली एकात्मता है। वास्तवमें इसके स्थानपर तत्त्वतः एकात्मताका होना आवश्यक है।

वेदसे लेकर गीतापर्यन्त यह एकात्मता किस प्रकार तत्त्वतः मानी जानी चाहिये, इसका निदर्शन तत्कालीन ऋषिमुनियोंने किया है और वह सफल भी हुआ है। अतएव इस ज्ञानका प्रसार प्रथम भारतवर्षमें करके फिर यहाँसे प्रचारक भेजकर पृथ्वीके अन्य देशोंमें करना चाहिये। कुछ समय पूर्व स्व. श्री स्वा. विवेकानन्दजी तथा स्व. श्री स्वा. रामतीर्थजीने यह कार्य वैयक्तिक रूपमें किया था और उन्हें इसमें सफलता भी खूब मिली थी। किन्तु ऐसा कार्य तो भविष्यमें स्थायी रूपसे एक संस्था स्थापित करके करना चाहिये।

यह सत्य है कि यह कार्य बहुत बडा है; किन्तु विश्व-शान्तिकी योजनाके लिये तो ऐसे बडे प्रयत्न ही होने चाहिये। बाह्यदेशका प्रचार जब होगा तब होगा; किन्तु हमारे देशमें भी विद्वानोंको इस बातका ज्ञान जैसा होना चाहिये वैसा नहीं है कि 'वैदिक दृष्टिकोण भिन्न है तथा बुद्धोत्तर दृष्टिकोण भिन्न है।' वैदिक दृष्टिकोण द्वारा जिसे

अज्ञान सिद्ध किया गया उसीको बुद्धने ज्ञानरूपमें स्वीकार किया तथा अशोकने प्रचारित किया। इस बातको ठीक ठीक समझे बिना जैसा कार्य होना अपेक्षित है वैसा सम्भव नहीं है। अतएव प्रथम वह कार्य होना आवश्यक है जिससे कि वैदिक दृष्टिकोणका ज्ञान हमारे देशमें ठीक ठीक हो सके।

इस देशमें वेद तथा गीताके लिये अतिशय आदरभाव है। इसी प्रकार उपनिषदोंके विषयमें भी अत्यन्त आदरभाव है। किन्तु उसमेंके तत्वज्ञानके अनुसार व्यवहार बनाकर तदनुसार व्यक्ति, कुटुंब, समाज, राष्ट्र एवं विश्वके सामाजिक तथा राजकीय व्यवहार किये जांय, यह बात किसीके ध्यानमें नहीं आ रही है। अपितु आज किसीको इस बातका भी ज्ञान नहीं है कि इस तत्वज्ञानका राजकीय क्षेत्रमें भी उपयोग हो सकता है। यह एक बहुत बडी बाधा है।

वैदिक धर्मके अतिरिक्त अन्य सब धर्म अर्थात् बौद्ध, जैन, पारसी, इसाई, मुसलमान आदि व्यक्तिवादी हैं। बुद्धके कुसंस्कारोंके कारण आजका हिन्दु धर्म भी व्यक्तिवादी बन गया है। अर्थात् हिन्दुओंने संघभाव छोडकर व्यक्तिभाव स्वीकार किया है। तथापि हिन्दुओंमें आज भी जो अंशतः वैदिक परम्परा विद्यमान है वह एक आशाकी किरण है। इसीको अधिक तेजस्वी बनानेका प्रयत्न होना चाहिये और यह कार्य आज ही प्रारम्भ हो जाना चाहिये।

दिव्य जीवन

(श्री अरविन्द)

अध्याय १३

दैवी माया

(१) तद्विश्ववस्य वृषभस्य धेनोरा नामभिर्ममिरे सक्म्यं गोः।
अन्यदन्यदसुर्यं वसाना नि मायिनो ममिरे रूपमस्मिन् ॥ ऋग्वेद ३।३८।७

परम देवके (वृषभके) और अदितिके (धेनुके) नामोंसे उन्होंने ज्योतिकी माताकी शक्तिको गढा और नापा; उस शक्तिके एकके-बाद-एक प्रचंड सामर्थ्यको पोशाककी तरह पहनते हुए मायाके अधिष्ठाताओंने इस पुरुषमें रूपको गढा।

(२) ... मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥ ऋग्वेद ९।८३।३

मायाके अधिष्ठाताओंने सब कुछको परमदेवकी मायासे गढा; दिव्य दृष्टिवाले पितरोंने पुत्रके रूपमें उस परमदेवका गर्भमें आधान कर दिया।

एक सत् है जो अपनी चिन्मय सत्ताकी शक्ति और शुद्ध आनंदसे कार्य करता तथा सृष्टि करता है; और यही है हमारे अपने अस्तित्वका सत्य, हमारे सारे गुणों और भावोंका आत्मा, हमारे सब कर्मों, भूतभावों और सर्गोंका कारण, उद्देश्य और लक्ष्य। जैसे कवि, कलाकार या गायक जब कोई रचना करता है तब वह वास्तवमें इसके सिवा और कुछ नहीं करता कि अपने अव्यक्त आत्माके अन्दरकी किसी संभावनाको एक व्यक्त रूप दे देता है और जैसे मनीषि, राजनीतिज्ञ या यांत्रिक केवल यही करता है कि अपने अन्दरकी किसी उस चीजको वस्तुओंके आकारमें उतार लाता है जो अभीतक गुप्त थी, जो उसका अपना भाव ही थी और अब रूपके सांचेमें ढल जानेके बाद भी उसका अपना भाव ही है... यही बात जगत् और सच्चिदानंदके विषयमें समझनी चाहिये। समस्त सृष्टि या संभूति और कुछ नहीं, बल्कि इस प्रकारका आत्म-प्राकट्य ही है। बीजके अंदरसे वह वस्तु विकसित होती है जो उसके अंदर पहलेसे थी, उसकी सत्तामें पूर्वस्थित थी, रूपान्वित होनेके उसके संकल्पमें पूर्वनिर्दिष्ट थी, संभूतिके आनंदमें पूर्वव्यवस्थित थी। मूल कललने (Plasm) अपने-आपके अंदर अपनी सत्ताकी शक्तिमें उस देहयंत्रको धारण कर रखा था जो उसीसे निर्गत हुआ है। क्योंकि जो वह गूढ और आत्मज्ञ शक्ति है वही सदा अपने-आपके रूपको, जिसको वह अपने गर्भमें धारण किये हुए है, उसे प्रकट करनेकी अदम्य प्रेरणासे प्रणोदित होती है। केवल अपने-आपमेंसे सृष्टि और विकास करनेवाला मनुष्य ही अपने-आपको, जो शक्ति उसके अंदर कार्य करती है उसको और जिस उपादानपर वह क्रिया करता है उसको भिन्न मानता है। वास्तवमें यह शक्ति वह स्वयं ही है, जिस व्यष्टिभावापन्न चेतनाका वह उपकरणके तौरपर उपयोग करता है, जिस उपादानका वह प्रयोग करता है और इनके परिणाम स्वरूप जो रूप तैयार होता है— यह सब कुछ वह स्वयं ही है। दूसरे शब्दोंमें यों कहें कि एक सत्, एक शक्ति, सत्ताका एक आनंद ही है जो विविध स्थलोंमें अपने-आपको केंद्रित करता है, हरएक केंद्रके बारेमें यह कहता है कि 'वह मैं हूं' और उसके अंदर अपने रूपायन-की वैचित्र्यमय लीलाके लिये अपनी आत्म-शक्तिकी विविध क्रीडाके द्वारा कार्य करता है।

वह जो कुछ सृष्टि करता है वह और कुछ नहीं, बल्कि उसका अपना-आप ही होता है, वह उसके अपने-आपके अतिरिक्त और कुछ हो भी नहीं सकता; वह अपने ही सत् चित्-तपस और सत्ताके आनंदकी लीलाको, छंदको, विकासको कार्यान्वित कर रहा है। इसलिये इस जगत्में जो कुछ भी उतरता है वह केवल यही चाहता है; अपनी स्थितिको बनाये रहना, वांछित रूपको प्राप्त होना, उस रूपके अंदर अपनी आत्म-स्थितिका विस्तार करना, अपने

अंदर जो चेतना और शक्ति है उसका विकास करना, उसे प्रकट करना, बढाना, अनंतरूपसे उपलब्ध करना; सृष्टिमें प्रकट होनेके आनंदको, सत्ताके रूपके आनंदको, चेतनाके छंदके आनंदको, शक्तिकी क्रीडाके आनंदको प्राप्त करना और हर किसी संभाव्य साधनके द्वारा, हर किसी दिशामें तथा अपनी गंभीरतम सत्तामें क्रियाशील जो सच्चिदानंद है वह उसके बारेमें जो कोई भी भावना उसको सूचित करे तद्नुसार इस आनंदको उत्कृष्ट और पूर्ण बनाना।

और यदि कोई लक्ष्य है, कोई पूर्णता है जिसकी ओर वस्तुएं जा रही हैं तो वह केवल उसकी आत्म-स्थितिकी, उसकी शक्ति और चेतनाकी, उसकी सत्ताके आनंदकी पूर्णता ही है और वह पूर्णता जैसे व्यष्टिमें होगी वैसे ही समष्टिमें। क्योंकि समष्टि तो व्यष्टियोंसे ही बनती है। परन्तु व्यष्टिगत रूपायनकी सीमाओंमें आबद्ध जो व्यष्टि-चेतना है उसके अन्दर यह पूर्णता संभव नहीं है; सांत सत्तामें सर्वांगीण परिपूर्णता शक्य नहीं है, क्योंकि यह सांत सत्ताकी आत्म-भावनाके ही सर्वथा विपरीत है। इसलिये अन्तिम लक्ष्य केवल यही हो सकता है कि व्यष्टिमें अनंत चेतनाका आविर्भाव हो; आत्मज्ञान और आत्मानुभूतिके द्वारा व्यष्टि अपने-आपके सत्यको पा ले, सत्तामें जो अनंत है, चेतनामें जो अनंत है, आनंदमें जो अनंत है उसके सत्यको अपना आत्मा और सद्वस्तुरूपसे पुनः पा ले और यह जान ले कि उसकी सांत सत्ता तो इस आत्मा और सद्वस्तुका एक छद्मवेश तथा वैचित्र्यमय अभिव्यक्तिके लिये एक यंत्रमात्र है।

इस प्रकार जगत्-लीलाको जैसा कि सच्चिदानंदने देश और कालके रूपमें विस्तृत अपने अस्तित्वकी विशालतामें रचा है, उसके अनुसार हमें यह धारणा करनी होगी कि पहले स्थूल द्रव्यकी जनता और अनंत विभाजनीयतामें चिन्मय सत्ताका आवर्तन (involution) और आत्मनिमज्जन होता है, क्योंकि इसके बिना सान्त वैचित्र्यका खेल संभव नहीं; फिर आत्मरुद्ध शक्तिकी मात्र रूपायित सत्ता, सजीव सत्ता और चिन्तनधर्मी सत्ताके रूपमें प्राकट्य होता है; अन्तमें संगठित चिन्तनधर्मी सत्ता अपनी मुक्तिके द्वारा स्वच्छंद रूपसे यह अनुभव करती है कि वह स्वयं वह अद्वितीय अनंत सत्ता है जो जगत्में क्रीडा कर रही है और इस मुक्तिके द्वारा वह अपने उस असीम सत्-चित्-आनंद रूपको पुनः प्राप्त होती है जो कि वह आज भी गुप्त, सार और शाश्वत रूपसे है। यह विविध गति ही इस जगत्-प्रहेलिकाकी एकमात्र कुंजी है।

इसी प्रकार वेदांतके प्राचीन और शाश्वत सत्यसे विश्वके विवर्तनके बारेका जो आधुनिक और प्रापंचिक सत्य है उसके समस्त मर्मको अपने अंदर गृहण किया है और हमारे आगे प्रकाशित, प्रमाणित और प्रदर्शित किया है। और विवर्तनके बारेका आधुनिक सत्य, जो कि कालके अंदर विश्व-पुरुषके क्रम विकासका प्राचीन सत्य ही है और जिसको आधुनिकोंने शक्ति और जडतत्वके अध्ययनके द्वारा अस्पष्ट रूपसे देखा है, तभी अपने पूर्ण अर्थ और प्रमाणको प्राप्त होगा जब कि वह इस प्राचीन और शाश्वत सत्यके प्रकाशमें-जो कि प्राचीन वेदांतिक दर्शनशास्त्रोंमें आज भी हमारे लिये सुरक्षित है— अपने-आपको आलोकित कर लेगा। प्राचीन पौरस्त्य और आधुनिक पाश्चात्य ज्ञानके मिलापके द्वारा इस पारस्परिक आत्म-प्राप्ति और आत्म-प्रकाशनकी ओर जगत्का ध्यान पलटने लगा है।

फिर भी, इस बातका पता लग जानेपर भी कि समस्त वस्तुएं सच्चिदानंद ही हैं व्याख्याकी इतिश्री नहीं हो गयी। हमने विश्वकी सद्वस्तुको तो जाना, पर अभीतक यह नहीं जान पाये हैं कि कौनसी प्रक्रियाके द्वारा वह सद्वस्तु खुद ही यह जगत् बनी है। जगत्-प्रहेलिकाकी कुंजी तो हमें मिल गयी है, किन्तु उस तालेका पता लगाना हमारे लिये बाकी है जिसमें यह कुंजी लगेगी। क्योंकि वह सत्-चित् तपस-आनंद किसी जादूगरकी भांति जगतों और विश्वोंकी सृष्टि केवल छूमंतरके द्वारा या किसी चरम दायित्वहीनताके साथ नहीं करता। हमें एक प्रक्रिया नजर आती है, एक विधान दिखायी देता है।

यह सच है कि विधानका जब हम विश्लेषण करते हैं तब यह मालूम होता है कि वह शक्तियोंकी क्रीडाकी एक साम्यावस्था है तथा अतीतमें क्रियाशक्तिका जो विकास हो चुका है और उससे जो संस्कार उत्पन्न हुए हैं उसके अनुसार भविष्यमें होनेवाली क्रीडाकी धाराओंका निर्द्धारण है। परन्तु वह आपात प्रतीयमान और गौणसत्य हमारे लिये अभीतक अन्तिम सत्य है जबतक हमारी धारणा यह होती है कि जो कुछ है वह शक्ति ही है। पर जब हम यह

देखते हैं कि शक्ति सत्‌की आत्म-अभिव्यक्ति है तब हम-को यह मानना पड़ता है कि यह जो धारा है जिसे शक्तिने अपनाया है यह सत्‌के उस आत्म-सत्यके अनुसार होती है जो इस शक्तिकी समस्त गति और लक्ष्यको नियंत्रित और निर्द्धारित करता है। और जब कि चेतना मूल सत्‌का स्वभाव और उसकी शक्तिका सार है तब यह सत्य निश्चय ही चिन्मय सत्ताका एक आत्म-दर्शन है और शक्तिने जो यह धारा अंगीकार की है उसका निर्द्धारण किसी आत्म-निर्देशक ज्ञानके बलके द्वारा ही होता है जो इस चेतनामें अन्तर्निहित है तथा जिसके कारण चेतना मूल आत्म-दर्शनकी न्यायसंगत रेखामें अपनी शक्तिका अव्यर्थ रूपसे परिचालन करनेमें समर्थ होती है। तब विश्व-चेतनाकी एक आत्म-निर्द्धारक शक्ति है, अनंत सत्‌के आत्म-बोधमें किसी सत्यको अपने अंदर देखनेकी और उस सत्यकी धाराके अनुसार अपनी सृष्टि-शक्तिको परिचालित करनेकी एक क्षमता है जो विश्व-प्राकट्यको चलाती है।

परन्तु अनंत चेतना और उसकी क्रियाओंके परिणामके बीच हम किसी विशेष शक्ति या वृत्तिको क्यों ले आते हैं? क्या अनंत सत्ताका यह आत्म-ज्ञान स्वयं ही उन रूपोंकी सृष्टि करता हुआ स्वच्छंद रूपसे विचरण नहीं कर सकता जो सृष्ट होनेके बाद तबतक लीलामें बने रहेंगे जब-तक कि इस लीलाको बंद कर देनेका उन्हें आदेश न मिले-जैसा कि हिब्रूशास्त्र कहता है 'खुदाने कहा रोशनी हो, और रोशनी हो गयी' परन्तु जब हम यह कहते हैं कि 'खुदाने कहा रोशनी हो' तब हम चेतनाकी एक शक्तिकी क्रियाको मान लेते हैं जो दूसरी वस्तुओंमेंसे, जो कि रोशनी नहीं हैं, रोशनीका निरूपण करती है और जब हम यह कहते हैं कि 'वहां रोशनी हो गयी' तब हम परिचालन करनेवाली एक वृत्तिका, मूल दर्शन-शक्तिके अनुरूप एक सक्रिय शक्तिका अनुमान करते हैं जो रोशनीकी इस घट-नाको बाहर ले आती है और मूल दर्शनकी धाराके अनुसार रोशनीको फैलाते हुए उसकी इस बातसे रक्षा करती है कि उससे इतर जो अनंत संभावनाएं हैं वे उसको पराभूत कर डालें। अनंत चेतना अपने अनंत कर्मके द्वारा केवल अनंत परिणाम ही पैदा कर सकती है, पर किसी विशिष्ट सत्य या सत्योंकी किसी विशिष्ट व्यवस्थाका निर्द्धारण कर उसके अनुसार किसी जगत्‌को गढ़नेके लिये ज्ञानकी एक निर्वाचनात्मक वृत्तिकी आवश्यकता होती है; जिसके जिम्मे यह काम हो कि वह अनंत सद्वस्तुमेंसे सांत रूपोंको गढ़ डाले।

इसी शक्तिको वैदिक ऋषि माया कहते थे। उनके लिये मायाका अर्थ या अनंत चेतनाकी वह शक्ति जो अनंत सत्‌के विशाल असीम सत्यमेंसे मूल नाम और रूपको निकालकर अपने अंदर ग्रहण और धारण करती और जुदे-जुदे आकार प्रदान करती है— और आकारका अर्थ ही है सीमामें बंधा हुआ रूप मायाके द्वारा ही मूल सत्ताका स्थाणु सत्य सक्रिय सत्ताका व्यवस्थित सत्य बनता है- अथवा और अधिक दार्शनिक भाषामें यों कहें कि सब जिसमें अभिन्न रूपसे सब है और विभाजनात्मक चेतनाकी सेंध जहां नहीं है उस परम सत्तामेंसे वह जागतिक सत्ता प्रकट होती है जिसमें हरेकमें सब हैं और सबमें हरेक है, सत्‌के साथ सत्‌की, चेतनाके साथ चेतनाकी, शक्तिके साथ शक्ति-की, आनंदके साथ आनंदकी लीलाके लिये। यह जो हरेकमें सबकी और सबमें हरेककी लीला है वह आरंभमें मनकी क्रीडाके कारण अथवा मायाके भ्रमके कारण हमसे छिपी रहती है, क्योंकि मानसिक लीला या मायाके भ्रममें फंसा हुआ हरेक व्यक्ति यह मानने लगता है कि वह तो सबमें है, किंतु सब उसमें नहीं है और यह कि वह जो सबमें है सो भी एक पृथक् सत्ताके रूपमें है, उस सत्ताके रूपमें नहीं जो समस्त अस्तित्वके साथ अविभाज्य रूपसे एक है। बादमें हमें इस भ्रमसे बाहर निकलकर उस विज्ञानमय लीलामें या मायाके सत्यमें प्रकट होना है जहां 'हरेक' और 'सब' का एक सत्यके तथा अनेक प्रतीकके अविभाज्य एकत्वमें युगपत् अस्तित्व है। निम्नतर, वर्तमान और भरमानेवाली मायाको पहले अपनाना होगा, इसके बाद तब उसपर विजय प्राप्त करनी होगी; क्योंकि यह विभाजन अंधकार और सीमाके साथ, कामना संघर्ष और कष्टके साथ ईश्वरकी लीला है, जिसमें ईश्वर अपने-आपको उस शक्तिके अधीन कर देता है जो उसीमेंसे निकली है, और उसके अंधेरेको अपने ऊपर ओढ लेता है। फिर जो दूसरी माया है जिसे मानसिक मायाने अपने आवरणके अंदर छिपा रखा है उसको पार करके पहले ऊपर चला जाना होगा

और बादमें उसका आलिंगन करना होगा; क्योंकि यह माया ईश्वरकी एक दूसरी ही लीला है, यह जीवनकी अनंतताओंकी, ज्ञानकी शोभाओंकी, विजित शक्तियोंकी महिमाओंकी और असीम प्रेमके परम आनंदकी लीला है, जहां ईश्वर शक्तिकी पकडसे निकल आता है, उलटे उसीको अपनी पकडमें रखता है और उसके अंदर— जो कि अब ज्योतिर्मय हो गयी है— उस उद्देश्यको चरितार्थ करता है जिसके लिये वह पहले पहल उसमेंसे बाहर हुई थी।

निम्नतर माया और उच्चतर मायाके बीच जो यह भेद है वही चिंतनमें और विश्वतथ्यमें वह कडी है जिसे निराशावादी या मायावादी दर्शनशास्त्र या तो नहीं देख पाये हैं या फिर देखकर भी इन्होंने उसकी उपेक्षा की है। उनके अनुसार मानसिक माया (या संभवतः कोई अधिमानस) जगत्की स्रष्ट्री है और इस मानसिक मायाके द्वारा सृष्ट जगत् अवश्य ही एक अवर्णनीय विरोधाभास तथा चिन्मय सत्ताका एक स्थिर पर भासमान कुस्वप्न ही होगा, जिसे न तो मिथ्या ही ठहराया जा सकता है न सत्य ही। हमें यह समझ लेना होगा कि वह नियंता-ज्ञान जो सृष्टि करता है और आत्मा जो अपने कर्मोंमें कैद है इन दोनोंके बीच मन तो एक मध्यवर्ती पदमात्र है। सच्चिदानंद अपनी निम्नतर क्रियाओंमेंसे एक क्रियाके द्वारा अपने सृष्ट रूपोंमें आत्मलुप्त जो शक्ति है उसकी आत्मविस्मृतिकारी लवलीनतामें निवर्तित होता है फिर इस आत्म-विस्मृतिकी स्थितिसे निकालकर अपने-आपकी ओर लौटता है; मन तो इस अवरोहण और आरोहण क्रममें उसका एक यंत्रमात्र है। यह अवरोहणात्मक सृष्टिका यंत्र है, निगूढ स्रष्ट्री शक्ति नहीं, आरोहणमें एक बीचका सार है हमारा उच्च मूल उत्स और विश्व-जीवनका अंतिम पद नहीं।

जो दर्शनशास्त्र केवल मनको ही जगतोंका स्रष्टा मानते या किसी मूल तत्त्वको स्वीकार कर उस तत्त्वके और विश्वके रूपोंके बीच मनको ही एकमात्र माध्यम मानते हैं, उन्हें दो भागोंमें बांटा जा सकता है— शुद्ध तत्त्ववादी दर्शनशास्त्र और आदर्शवादी दर्शनशास्त्र। शुद्ध तत्त्ववादी दर्शनशास्त्र केवल यही मानते हैं कि यह विश्व मन, चिंतन और भावनाका ही कर्म है; परन्तु भावना मनकी लहरमात्र हो सकती है और यह सर्वथा संभव है कि जीवनके वास्तविक सत्यके साथ उसका कोई मूलगत संबंध ही न हो; तब इस तरहका कोई सत्य यदि है तो उसको तो यही मानना होगा कि वह एक निरा निरपेक्ष सत्य है जो समस्त संबंधोंसे अलग है और आपेक्षिक संबंधोंवाले जगत्के साथ उसका कोई मेल नहीं बैठाया जा सकता। आदर्शवादी दर्शनशास्त्र अग्रभागमें जो धारणात्मक घटना है और इसके पृष्ठभागमें जो सत्य है, इन दोनोंके बीच एक संबंध मानते हैं, एक ऐसे संबंधको मानते हैं जो केवल वैपरीत्य और विरोध ही नहीं है। परंतु जिस दृष्टिको मैं सामने रख रहा हूं वह आदर्शवादको और आगे बढाती है; वह स्रष्ट्री भावनाको ऋतंभरा भावनाके नामसे जानती है, ऋतंभरा भावना अर्थात् चिन्मय शक्तिकी एक वह शक्ति जो सत्य सत्ताकी अभिव्यंजना करती है, सत्य सत्तामेंसे जन्मी है और उसीके स्वभाववाली है; जो न तो शून्यकी संतान है न मिथ्या भावनाओंकी जननी। अपने अविनाशी और अक्षर द्रव्यसे निर्मित क्षर रूपोंमें जो अपने-आपका प्रक्षेप करती है वह चिन्मय सद्वस्तु है। जगत् तब विराट् मनमें एक अलीक कल्पना नहीं है, बल्कि यह है मनके परे जो सद्वस्तु है उसका अपने-आपके रूपोंमें एक सज्ञान जन्म। चिन्मय सत्ताका एक सत्य इन रूपोंको धारण करता है और उनके अंदर अपने-आपको अभिव्यक्त करता है और इस प्रकार अभिव्यक्त सत्यके अनुरूप एक ज्ञान, जिसे विज्ञानमय ऋत्-चित् * कहते हैं विश्वका शासन करता है; यह ज्ञान सत्य भावनाओंका मन-प्राण-शरीरके सांचेमें ढाले जानेसे पहले पूर्ण सामंजस्यमें संगठन करता है। मन-प्राण-शरीर एक हीन चेतना है, एक आंशिक अभिव्यंजना है जो इस बातकी चेष्टा करती है कि वैचित्र्यमय विकासके सांचेमें वह अपने-आपकी उस श्रेष्ठ अभिव्यक्तिको प्राप्त हो जो अतिमानसमें सदा वर्तमान है। अतिमानसमें जो है वही वह ऋतंभरा सत्य है। जिसे मन-प्राण-शरीरकी हीन चेतना अपनी ही अवस्थाओंके अंतर्गत वहां उपलब्ध करनेके लिये सचेष्ट है।

* ऋत्-चित् शब्द मैंने ऋग्वेदसे लिया है, जिसका अर्थ है सत्ताके मूल सत्यकी चेतना (सत्यम्) सक्रिय सत्ताके व्यवस्थित सत्यकी चेतना (ऋतम्) तथा विशाल आत्म-संविद् (बृहत्) केवल जिनमें ही यह चेतना हो सकती है।

हमारी आरोहणात्मक दृष्टिके अनुसार हम यह कह सकते हैं कि जिस किसी वस्तुका अस्तित्व है उसके पीछे सद्वस्तु वर्तमान है; यह सद्वस्तु पहले एक ऋतंभरा भावनामें अपने-आपको अभिव्यक्त करती है जो कि उसके अपने-आपका ही एक सामंजस्यमय सत्य है; बादमें यह ऋतंभरा भावना एक जागतिक सत्यके रूपमें उस परिवर्तनशील सचेतन सत्ताको जन्म देती है जो अपने मूलगत सत्यकी ओर अनिवार्य रूपसे आकर्षित होनेके कारण अन्तमें यह प्रयत्न करती है कि वह एक प्रचंड छलांगमें या स्वाभाविक रूपसे अपने उद्भव स्थान ऋतंभरा भावनाके भीतरसे होकर मूल सद्वस्तुको पूर्ण रूपसे पुनः प्राप्त करे। तब यह बात भी हमारे लिये स्पष्ट हो जाती है कि मनकी दृष्टिमें मानव-जीवन क्यों अपूर्ण प्रतीत होता है, मनोमय सत्तामें अपनेसे परेकी किसी वर्द्धमान पूर्णताकी ओर तथा इस ऋतंभरा भावनाके निगूढ सामंजस्यकी ओर यह सहज अभीप्सा क्यों होती है और आत्मामें इस ऋतंभरा भावनाके परे रहनेवाले परात्पर पुरुषके प्रति यह परम तरंग क्यों उठती है। हमारी चेतनाके स्वयं तथ्य, इसकी बनावट और इसकी आवश्यकता इस त्रिविध व्यवस्थाको स्वतः सिद्ध करते हैं, ये निर्विशेष ब्रह्म और निरी सापेक्षताके बीचके द्वंद्वात्मक और असंधेय विरोधको नकारते हैं।

विश्वमें जो जीवन है उसकी कैफियत देनेके लिये मन पर्याप्त नहीं है। अनंत चेतनाको पहले ज्ञानकी उस अनंत वृत्तिमें परिवर्तित होना होगा जिसे हम अपने दृष्टिकोणके हिसाबसे सर्वज्ञता कहते हैं। परन्तु मन न तो ज्ञानकी वृत्ति है न सर्वज्ञताका पंच ही; बल्कि ज्ञानकी खोजके लिये, जितनासा ज्ञान यह प्राप्त कर सके उसे आपेक्षिक चिंतनके कतिपय रूपोंमें अभिव्यक्त करनेके लिये और फिर उसका कर्मकी कतिपय क्षमताओंमें उपयोग करनेके लिये— यह एक वृत्ति है। और जब यह सत्यको पाता है तब भी सत्य-पर इसका अधिकार नहीं होता यह केवल सत्यके प्रचलित सिक्कोंकी एक छोटीसी रकमको ही— स्वयं सत्यको नहीं— अपनी स्मृतिके खजानेमें जमा रखता है ताकि जैसे-जैसे इसे जरूरत हो वैसे-वैसे यह उसमेंसे ले सके। क्योंकि मन वह है जिसे ज्ञान प्राप्त नहीं है, जो ज्ञान प्राप्त करना चाहता है पर जिसे ज्ञान मिलता कभी नहीं, तब हां धुंधले शीशेके भीतरसे हम जैसे वस्तुओंको अस्पष्ट रूपसे देखते हैं वैसे ही यह भी सत्यको देख सकता है। यह वह शक्ति है जो वस्तुओंकी किसी एक विशिष्ट व्यवस्थामें व्यवहारिक प्रयोगके लिये विश्व-जीवनके सत्यका बोध कराती है, यह वह शक्ति नहीं है जो विश्व-जीवनका ज्ञान रखती और इसका परिचालन करती है और इसलिये यह वह शक्ति नहीं जिसने इसकी सृष्टि या अभिव्यक्ति की है।

परंतु यदि हम किसी ऐसे अनंत मनको मानें जो हमारी सीमाओंसे बंधा हुआ नहीं है तब ऐसा मन तो विश्वका स्रष्टा हो सकता है न? परंतु ऐसा मन तो उस मनसे सर्वथा भिन्न प्रकारका होगा जिससे कि हम परिचित हैं; वह तो कोई ऐसी चीज होगा जो हमारे मनस्तत्वसे सर्वथा परे है; उसे तो कहना होगा अतिमानस या विज्ञानमय सत्य। जिस मनको हम जानते हैं उसके ताने-बानेसे बुना हुआ अनंत मन तो अनंत संप्लवकी, आकस्मिक घटनाओंके तथा परिवर्तनोंके एक विशाल संघर्षकी सृष्टि ही कर सकता है जो संघर्षमय सृष्टि किसी अनिर्दिष्ट लक्ष्यकी ओर अंधेकी भांति टटोलती और ढूंढती हुई भटकती रहेगी। अनंत, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान मनको मन नहीं कहा जा सकता, उसे तो अतिमानस ज्ञान ही कहना होगा।

मन जैसा कि हम इसको जानते हैं, एक वह दर्पण है जिसमें इससे बाहरके और इससे बाहरके नहीं तो कम-से कम इससे बड़े पूर्वस्थित सत्य या तथ्यके रूपों और आकारोंका प्रतिबिंब पड़ता है। यह पल-पलमें अपने-आपके आगे वर्तमान या भूत घटनाको प्रतिरूपित करता है। इसमें यह भी क्षमता है कि जिन रूपोंमें वास्तविक तथ्य इसके सामने उपस्थित हो चुका है उनके अतिरिक्त उन दूसरे-दूसरे संभाव्य रूपोंको भी अपने अंदर गढ सके जिनका उन वास्तविक तथ्योंसे कोई संबंध न हो जो इसके आगे प्रकट हो चुके हैं; अर्थात् अपने अंदर यह केवल भूत घटनाको ही नहीं बल्कि भविष्य घटनाको भी प्रतिरूपित कर सकता है, तब यह जान लेना चाहिये कि यदि वर्तमान या भूत घटनाकी निश्चित पुनरावृत्ति न हो तो यह अपने-आपके आगे किसी ऐसी घटनाको प्रतिरूपित नहीं कर सकता जो अवश्य ही घटेगी। अंतमें यह उन नवीन परिवर्तनोंके बारेकी पूर्व कल्पना कर सकता है जिन्हें यह भूत

और संभाव्य भविष्यके मिश्रणसे, सिद्ध और असिद्ध संभावनाके योगसे गढ़ना चाहता है; यह कोई ऐसी चीज होती है जिसे यह कभी-कभी न्यूनाधिक यथावत् गढ डालनेमें सफल होता है, कभी-कभी इसकी यह रचना कार्यतः सत्य नहीं उतरती पर प्रायः ही यह पाता है कि इसकी ये रचनाएं इसके पूर्व कल्पित सांचेमें नहीं बल्कि किसी दूसरे ही सांचेमें ढल गयी है और इसने जो चाहा था उसके सिवा किन्हीं दूसरे ही उद्देश्योंकी सिद्धिके काममें लग गयी हैं।

इस प्रकारका अनंत मन हो तो एक ऐसे निरुद्देश्य आकस्मिक विश्वकी सृष्टि ही कर सकता है जो परस्पर विरोधी संभावनाओंसे भरा हुआ हो और उसको वह एक *ऐसा आकार ही दे सकता है जो परिवर्तनशील हो, सदा क्षणिक हो, जिसका प्रवाह सदा अनिश्चित हो,* जो न सत्य हो न मिथ्या, जिसका न कोई निर्दिष्ट लक्ष्य हो न उद्देश्य, पर जो क्षण-क्षणपर बदलते रहनेवाले लक्ष्योंका एक अक्षय अनुक्रम हो, किन्तु अन्तमें जिसका कोई परिणाम सिद्ध न हो, क्योंकि ज्ञानकी कोई श्रेष्ठ परिचालिका शक्ति तो इसमें है ही नहीं। ऐसे निरे तत्ववादका यौक्तिक पर्यवसान किसी शून्यवाद या मायावाद या तज्जातीय दर्शनशास्त्रमें ही होता है। और इस प्रकार सृष्ट जगत् स्रष्टाका अपना प्रतिरूप *या प्रतिबिंब* नहीं होगा, बल्कि वह सदा और अंततक एक मिथ्या प्रतिरूप, एक विकृत प्रतिबिंब ही रहेगा; समस्त जागतिक जीवन तब होगा एक ऐसा मन जो अपनी कल्पनाओंको पूरे तौरपर क्रियान्वित करना चाहता है पर सफल *नहीं होता, क्योंकि ये कल्पनाएं आत्म-सत्यके अपरिहार्य* आधारपर स्थापित नहीं हैं। यह मन अपनी भूत क्रियाओंके प्रवाहसे अभिभूत होकर और धकेला जाकर बिना किसी निर्दिष्ट परिणामके आगेकी ओर तबतक बहता रहेगा जबतक कि वह अपना अंत न कर डाले या किसी शाश्वत निस्तब्धतामें न जा गिरे। शून्यवाद या मायावादकी उत्पत्तिका मूल है यही दृष्टिकोण और यही एकमात्र ज्ञान। प्रतीत होगा यदि हम यह मानें कि हमारा मानव-मन या उसके जैसी कोई चीज ही उच्चतम विश्व-शक्तिका और विश्वमें क्रियाशील मूल भावना है।

परंतु ज्योंही हम मूल ज्ञान-शक्तिमें एक उस शक्तिको देख पाते हैं जो हमारे मानव-मनकी शक्तिसे श्रेष्ठ है त्योंही विश्वके बारेकी यह धारणा अपर्याप्त और फलतः अप्रामाण्य हो जाती है। इसमें भी एक सत्य है, किन्तु यह समग्र सत्य नहीं है। यह विश्वके तात्कालिक आपात प्रतीयमान रूपका धर्म है, उसके मूल सत्य और अंतिम तथ्यका धर्म नहीं। क्योंकि मन, प्राण और शरीरकी क्रियाके पीछे हमें किसी ऐसी वस्तुका दर्शन होता है जो शक्तिकी धारामें समाविष्ट नहीं हो गयी है, बल्कि जो इस धाराको अपने अंदर समावेश करती और उसपर नियंत्रण रखती है; किसी ऐसी वस्तुका दर्शन होता है जो इस जगतमें— जिसका कि वह आश्रय बताना चाहती है— पैदा नहीं हुई है, *बल्कि जिसने अपनी सत्तामें एक ऐसे जगत्को पैदा किया* है जिसका उसे पूर्ण ज्ञान है, किसी ऐसी वस्तुका दर्शन *होता है जो अपनी हुकूमतके बाहरकी अतीत क्रियाशक्तियोंकी अभिभूतिकर उत्तम लहरोंमें बहते हुए अपने-आपके* अंदरसे किसी दूसरी ही वस्तुकी रचना करते रहनेमें व्यस्त नहीं है, बल्कि जिसकी चेतनामें अपने-आपका एक निर्दोष और सुघड रूप पहलेसे वर्तमान है और उस रूपको ही वह यहां क्रमशः अनावृत कर रही है। जगत् किसी पूर्व दृष्ट सत्यकी अभिव्यक्ति कर रहा है, एक पूर्वनिर्देशक संकल्प शक्तिकी आज्ञाके अनुसार चल रहा है, एक मूल स्रष्टा आत्म-दर्शनको सिद्ध कर रहा है— यह है एक दिव्य सृष्टिकी विकासमान मूर्ति।

जबतक हम आपातप्रतीयमान रूपोंके द्वारा नियंत्रित मनके मारफत ही कार्य करते हैं तबतक वह वस्तु जो इन रूपोंके परे और पीछे होते हुए भी सदा इनमें सक्रिय रूपसे व्याप्त है हमारे लिये केवल एक अनुमानमात्र या अस्पष्ट रूपसे अनुभूत अवस्थितिमात्र ही हो सकती है। हम एक चक्रवत् प्रगतिके विधानको देखते और अनुमान करते हैं कि कहींपर कोई वस्तु है जो पूर्वज्ञान है और उसकी चिरवर्द्धमान पूर्णता हो रही है। क्योंकि हर जगह हम आत्म-सत्तामें प्रतिष्ठित एक विधानको देखते हैं और जब हम इसकी प्रक्रियाकी यौक्तिकताके अंदर प्रवेश करते हैं तब हम यह पाते हैं कि यह विधान एक निगूढ ज्ञानकी अभिव्यक्ति है, इस ज्ञानकी जो आत्म-अभिव्यक्तिपरक जीवनमें निहित है और जो शक्ति उसको अभिव्यक्त करती है उसमें अनुस्यूत है; और ज्ञानके द्वारा विकसित विधान, जिससे कि प्रगति संभव होती है; इसका अर्थ है दिव्य

चेतनामें इष्ट एक लक्ष्य जिसकी ओर विश्वगतिका परिचालन हो रहा है। हम यह भी देख पाते हैं कि हमारी बुद्धि हमारे मनके लक्ष्यहीन असहाय चक्रसे बाहर निकलकर उसपर शासन करना चाहती है और हम इस अनुभवको प्राप्त होते हैं कि बुद्धिमात्र एक संदेशवाहिका, एक प्रतिनिधि या एक छाया है अपनेसे परेकी एक उस महत्तर चेतनाकी जिसको बौद्धिक युक्तियोंकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वही सब कुछ है और वह जो कुछ है उसका उसे पूर्ण ज्ञान है। और तब हम इस सिद्धांतको प्राप्त होते हैं कि बुद्धिका यह मूल उस ज्ञानके साथ एक है जो जगत्में दिव्य विधानके रूपमें कार्य करता है। यह ज्ञान एक राजाधिराजकी तरह अपने निजी विधानका निर्देश करता है, क्योंकि जो कुछ था, है और होगा उसको यह जानता है, इसलिये कि यह स्वयं शाश्वत रूपसे वर्त्तमान है और अपने सत्योंको अनंत रूपसे जानता रहता है। परम सत्ता अनंत चेतना है, अनंत चेतना सर्वेश्वरी शक्ति है— यह सत्ता जब किसी जगत्की सृष्टि करती है, अर्थात् अपने-आपके सत्योंके किसी व्यावहारिक सामंजस्यकी सृष्टि करती है तब इसकी चेतनाका विषय हमारे लिये उस विश्व-जीवनके रूपमें चिंतनग्राह्य होता है जो अपने सत्यको जानता है और जिसको वह जानता है उसे रूपोंमें सिद्ध करता है।

परन्तु जब हम अपने मनके विचार-वितर्कको बंद करके अपने-आपकी गहराईमें, उस गुह्य आधारमें उतरते हैं जहां मन चुप हो जाता है तब यह दूसरी चेतना हमारे सामने स्पष्ट रूपसे प्रकट होती है— यद्यपि यह प्राकट्य हमारी अभ्यस्त मानसिक प्रतिक्रिया और सीमाके कारण बहुत कुछ अपूर्ण होता है। तब हम नित्य बढते हुए प्रकाशमें उसको निश्चित रूपसे जान सकते हैं जिसके बारेमें हमने बुद्धिके मंद टिमटिमाते हुए प्रकाशमें अनिश्चितरूपसे धारणा की थी। मन और बौद्धिक तर्कके परे, असीम आत्म-दर्शनकी ज्योतिर्मय विशालताके सिंहासनपर आसीन होकर ज्ञान हमारी प्रतीक्षा करता रहता है।

वेदोंद्वारा वेदार्थमें सहायता

(वैदिक गवेषक ब्र० उपबुंध; नैरोबी; पूर्वी अफ्रीका)

प्रारम्भमें जब वेदोंका ज्ञान मनुष्यजातिको प्राप्त हुआ; उस समय वेदार्थको समझनेके लिये किसी व्याकरण वा कोषका अस्तित्व न था। तब प्रारम्भमें वेदार्थको कैसे समझा जा सका ? यास्कादिके मतमें "साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः" ऋषि साक्षात्कृतधर्मा थे; उन्होंने आत्मिक प्रेरणासे ही वेदार्थ समझ लिये। किन्तु इस विषयमें वेदके मन्त्रोंसे एक और निर्देश मिलता है, कि वेदमें भी स्वयं "कोष" का प्रतिपादन किया गया है। वेदकी प्रेरणाके विषयमें प्रायः प्रमाणार्थ प्रस्तुत किया जानेवाला मन्त्र है—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः। यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

इस मन्त्रमें "नामधेयं दधानाः" पद विचारणीय है। "नाम धारण करते हुए" वाणीकी प्रेरणा दी गई। अर्थात् उक्त ज्ञानमें पदार्थोंके गुणकर्मधर्मानुसार नाम निश्चित किये गये। —इसी सूक्त का तीसरा मन्त्र भी दर्शनीय है– "यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्..." वाणीकी यह पदवी यज्ञके साथ प्राप्त हुई; पद+वी, पदोंकी गति; पदक्रम। यज्ञ–संगति–अर्थ संगति। अर्थात् वेदके पदोंका समस्त क्रम अर्थ संगति पूर्वक प्राप्त हुआ; इसका तात्पर्य्य जहां यह है; कि वेदका समस्त मन्त्रपाठ अर्थसंगति पूर्वक है; और यज्ञकी क्रियायें भी अर्थानुसार विनियोग पूर्वक होनी चाहिये; वहां "नामधेयं दधानाः" के साथ संगतिपूर्वक यह भी तात्पर्य है कि वेदमें अर्थसंगतिपूर्वक पदार्थोंके नाम निर्देश किये गये हैं; इस प्रकार शब्दोंके अर्थ भी बतलाये गये हैं।

इस बातका बीजरूपमें प्रमाण देनेके लिये, वेदके एक दो मन्त्र सुप्रसिद्ध हैं:—

(१) इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते
सरस्वति महि विश्रुति। एता ते अघ्न्ये
नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात् "

यजुर्वेद अ. ८, मं० ४३॥

इस मन्त्रमें स्पष्ट ही गायके लिये दस पर्याय नामोंका निर्देश किया गया है।

(२) सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे...।

इसी मन्त्रके आधार पर शतपथ ब्राह्मणमें जमदग्नि, भरद्वाज आदि शब्दोंके अर्थ, चक्षु, मन इत्यादि किये गये हैं।

वैसे वस्तुतः ब्राह्मणग्रन्थोंमें प्रतिपादन किये गये वैदिक शब्दोंके अर्थ अधिकतर वेदमंत्रोंसे लिये गये हैं; इसे हम आगे प्रमाणित करेंगे।

वेदमें शब्दार्थ किस शैली पर दिये गये हैं; यह समझ लेनेपर समस्त मार्ग स्वतः स्पष्ट हो जायगा।

जिस प्रकार आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें एक ओषधिका नाम देनेके पश्चात् उसके समस्त लक्षण बतलाये जाते हैं; उन लक्षणोंके बिना ओषधिवाचक शब्दका तात्पर्य विदित नहीं हो सकता। क्योंकि पदार्थका लक्षण ही पदार्थ-वाचक शब्दका वास्तविक अर्थ होता है; इसीलिये वस्तुको पदार्थ-(पदस्य=अर्थः) कहते हैं। भाषान्तर करनेका नाम शब्दार्थ करना नहीं है; अपितु शब्दको तत्तल्लक्षण युक्त पदार्थके साथ सम्बन्धित करना; नाम और रूपका सम्बन्ध प्रतिपादित करना ही शब्दार्थ है; जैसा कि आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें किया गया है। पदार्थका मुख्य गुणप्रतिपादक नाम तो एक ही होता है; अन्य नाम विशेष विशेष गुणोंके प्रतिपादक होनेसे पर्याय नाम होते हैं, दूसरे शब्दोंमें विशेष्य नाम एक ही है, विशेषण नाम अनेक हैं; वे विशेषण नाम जहां एक ओर पदार्थके लक्षण माने जा सकते हैं, वहां पर्याय नाम भी हो सकते हैं। अग्नि आगका मुख्य नाम है, किन्तु ज्वलन शब्द अग्निका लक्षणप्रतिपादक होते हुए भी; अग्निका नाम है। यही प्रणाली वेदमन्त्रोंमें अपनाई गई है। देवताओं वा पदार्थोंके लिये आनेवाले विशेषण अन्य स्थानोंपर उनके नामके रूपमें प्रयुक्त हुए हैं।

ऋग्वेदके सम्पूर्ण प्रथम मण्डल तथा २ रे मण्डलके ३६ वें सूक्त तकके मन्त्रोंके आधार पर लगभग ३००० शब्दोंका एक कोष मैं लगभग तैयार कर चुका हूं; यदि कोई विद्वान् इस विषयमें मुझे विशेष सम्मति दें, तो आभारी होऊंगा।

यहां मैं ऋग्वेदके प्रथम मण्डलसे कुछ ऐसे शब्दोंकी सूची देता हूँ; जो सामान्य संस्कृत कोषोंमें पर्यायवाची नाम हैं; किन्तु वेद मन्त्रोंमें विशेषणके रूपमें प्रयुक्त हुए

हैं; और राजर्षि मनुके " सर्वेषां तु स नामानि... वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संज्ञा विनिर्ममे " कथनानुसार पीछेसे कोषोंमें नाम रूपमें ले लिये गये हैं।

प्रथम मण्डल सूक्त-मन्त्र.

यज्ञ	अध्वर,	१ - १-४
अग्नि	अंगिरस्	१ - १-६
,,	हव्यवाट्	१ -१२-२
,,	पावक	१ -१२-१०
,,	शुचि	१ -३१-१७
इन्द्र	वज्रबाहुः	१ -३२-१५
अघ	. दुःशेव	१ -४२-२
अग्नि	जातवेदस्	१ -४४-१
अग्नि	उषर्बुध	१ -४४-२
,,	धूमकेतु	१ -४४-३
,,	अतिथि	१ -४४-४
अश्विनौ	नासत्यौ	१ -४६-५ (यहां आप्टे कोष देखिये)
अर्जुनी	usha-wife of Aniruddha)	
अग्नि	वह्नि	१ -६०-१
,,	दमूनस्	१ -६०-४
,,	उशिज्	१ -६०-४
इन्द्र	शतक्रतु	१ -४ -८
,,	वज्री	१ -७ -१
,,	पुरुष्टुत	१ -११-४
,,	वृत्रहा	१ -१६-८
,,	पुरुहूत	१ -३०-१०
,,	शक्र	१ -५४-२
ऋत	(नक्षत्र)ये स्कन मुष्मा निहिता दहश्रे	१ २४-१०
इन्द्र	कौशिक	१ -१०-११
केतु	सूर्यरश्मि	१ -५०-३
सविता	चित्रभानु	१ -३४-४
सूर्य	तरणि	१ -४९-४
अग्नि	अश्म	१ -५८-५
भेषज	तन्वे वरूथम्	१ -२३-१
अश्विनौ	दस्रौ	१ -३ -३
रयि	द्युम्न	१ -४८-१६
ग्ना	देवपत्नी (कोषेषु-स्त्री सामान्यम्।)	१ -६१-८
अग्नि	बर्हिः	१ -१३-४
पुरु	महान्	१ -२७-११
इन्द्र	महावीर	१ -३२-६

(Apte-Dictionary के अनुसार-महावीर-The thunderbolt of Indra.

अग्नि	रोहिदश्व (रोहिताश्व ?)	१ -४५-२
वरुण	आदित्य (Name of an Aditya- Apte dictionary)	१ -२४-१५
सानसि	रयि (gold Apte)	१ -८ -१

अब आप कुछ शब्द देखिये जो निरुक्तमें पर्यायनाम वा शब्दार्थ हैं; किन्तु वेदके मन्त्रोंमें विशेषण रूपसे प्रयुक्त हुए हैं। जिनके विषयमें निरुक्तकार कहता है- " छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः " वेदके मन्त्रोंसे खोज कर लिये गये हैं।

		ऋग्वेद	निरुक्त
अध्वर	यज्ञ	१-१-४	१-१-७
अहिगोपाः	आपः	१-३२-११	१-५-१७
अध्रिगुः	अग्निः	८-६०-१७	५-२-११
अध्रिगुः	इन्द्रः	६-४५-२० / ८-७०-१	५-२-११
केतवः	रश्मयः	१-५०-३	११-२-१५
घृतपृष्ठः	अग्निः [निरुक्त]		
(हाः)	(वह्नयः) [ऋ०]		
जातवेदाः	अग्निः	१-४४-१	७-५-१९
बृहत्	उरु, पृथुः (ऋ०) / महत् (नि०)	१-९ -७ / १-२५-९	१-३-६
राधः	वसु (ऋ०) / धनम् (नि०)	१-२२-७	४-१-४

इसके साथ ही निघण्टुके भी कुछ शब्द देना अनुपयुक्त न होगा।

(क्रमशः)

(स्वाध्याय-मण्डल किल्ला पारडी, जि. सूरत द्वारा संचालित)

संस्कृत भाषा प्रचार समिति

१९५३ ई. की परीक्षार्थी संख्या

१	डाँसोट	५१	३१	सिद्धपुर	८०
२	बगवाडा	३१	३२	आणंद (शा. हा.)	१००
३	चिखोदरा	३०	३३	तारापुर	४०
४	खोलवड	२५	३४	धीनोज	१३२
५	सैजपुर	५०	३५	पारडी	३७
६	वासद	१०	३६	बारडोली	२४
७	पाद्रा	८	३७	उमरा	१२
८	सणोसर	१०	३८	गोभु	२१
९	भालेज	१३	३९	कावीठा	३५
१०	वापी	१७	४०	चांदोद	५७
११	उंढापाढा (धोलका)	४०	४१	सिनोर	६२
१२	वालोड	३७	४२	भरुच	३७९
१३	कोसंबा	१६	४३	नवसारी	१८२
१४	कामली	१६	४४	सूरत	४७१
१५	मिया–सरभण	७०	४५	गोधरा	१६
१६	व्यारा	३१	४६	वल्लभविद्यानगर	७८
१७	चकलासी	३०	४७	वडनगर	२००
१८	मांडवी	४०	४८	लांभवेल	१०
१९	बहुधान	४०	४९	बलसाड	३९
२०	पालीताणा	५२	५०	सोनगढ	४४
२१	महेमदाबाद	३५	५१	सारसा	५९
२२	कपडवणज	५१	५२	भावनगर	३२
२३	डभोऊ	२३	५३	कंढाच	२४
२४	मोडासा	५८	५४	महुआ	५०
२५	उंझा	७१	५५	नडिआद	२३०
२६	सामरखा	१६	५६	अंबाव	२४
२७	गणदेवी	१४	५७	इटोला	४७
२८	विसनगर	१५७	५८	आणंद (पा. हा.)	५७
२९	राजपीपला	१४१	५९	मंडाला	५४.
३०	चिखली (सूरत)	९३	६०	मण्डलेश्वर	१६७

६१	साक्रि	१५	९७	मोमिनाबाद	२८५
६२	जोधपूर	५५	९८	बीड	१२४
६३	शिवपुरी	११	९९	बामणोद	४७
६४	बैरागढ खुमान	१२	१००	पाटोदा	१२७
६५	उटकर	९	१०१	दिग्रस	१५९
६६	कुंभकोणम्	१०	१०२	उदगीर	१०५
६७	करीमनगर	१७	१०३	देऊळगांवराजा	६०
६८	नीमचसिटी	२६	१०४	कळब	४५
६९	अबोहर	३९	१०५	तांडूर	४०
७०	गांधीनगर	१०	१०६	बेलीकट्टे	२४
७१	तलमोड	२१	१०७	लाखनी	६०
७२	करडकल	३८	१०८	वणी	७३
७३	बैरागढ	४९	१०९	नन्दुरबार	३१
७४	रायपर्ति	१८	११०	तेल्हारा	१८
७५	कनखल	१८	१११	लातूर	७४
७६	अम्मेंबलम्	११	११२	सिंदी	३१
७७	अड्यनड्क	१३	११३	सदाशिवपेठ	१३
७८	कल्वाकुर्ति	५४	११४	जिन्तूर	५९
७९	रायश्री	२४	११५	उन्हेळ	१२
८०	विकाराबाद	२०	११६	चिटगोपा	१०
८१	महिदपुर	२२	११७	तुळजापूर	१७
८२	केंदिला	४०	११८	बिजापुर	११
८३	त्रिशिरःपुर	१०	११९	बीदर	३०
८४	धार	३६	१२०	वसमतनगर	१४
८५	फाजिलका	२३	१२१	नशिराबाद	७४
८६	रामायम्पेठ	४४	१२२	चिखली (वऱ्हाड)	१०७
८७	जोहानिसबर्ग	२१	१२३	वसई	३८
८८	कुकुन्दा	१३	१२४	मलकापूर	६४
८९	अजमेर	४९	१२५	बैतूल	२५
९०	पैठण	७३	१२६	वर्धा (न्यू. हा.)	१४
९१	शंकरपल्ली	३५	१२७	वर्धा (के. क. शा.)	२८
९२	सदरपुर	२७	१२८	नान्दूरा	१३
९३	उरई	४४	१२९	मटन (काश्मीर)	३५
९४	जावरा	१६	१३०	पोतंगल	८
९५	इंन्दौर	६७	१३१	नरायना	३७
९६	जालना	१६८	१३२	महबूबनगर	१४

१३३	निजामाबाद	१८
१३४	पंडोली	२३
१३५	किशनगढ (के. डी. जै.)	३४
१३६	जळगांव जामोद	१३
१३७	ददिया	१७
१३८	गुरुकुल सूपा	१८
१३९	शेगांव	२६
१४०	सावनेर	४९
१४१	नागपूर (न्यू. ईश)	१३७
१४२	श्रीनगर	२२
१४३	हैद्राबाद	४९६
१४४	उत्तरसू (काश्मीर)	१३
१४५	बडौदा	२९
१४६	दारव्हा	१८
१४७	अहमदाबाद	५
१४८	अकोला	२८७
१४९	पातूर	३९
१५०	खामगांव	३७
१५१	मोझरी	१३
१५२	कल्याण	२६
१५३	चान्दूर	६७
१५४	श्रीनगर (महिला. वि.)	५३
१५५	लांघनज	१८
१५६	टुंडाव	१५
१५७	जयपुर	१८
१५८	नीमच केण्ट	४०
१५९	मोर्शी	१६
१६०	हिंगणघाट	६१
१६१	अमरावती	६५
१६२	उमरखेड	३५
१६३	अमरावती (नू. क. शा.)	२९
१६४	मालेगांव	१६
१६५	मेहकर	२६
१६६	अंबड	११
१६७	अचलपूर	३०
१६८	धामणगांव	२३
१६९	जामखेड	१२
१७०	छिंदवाडा	१९
१७१	मूर्तिजापूर	१६
१७२	कारंजा	६
१७३	परळी बैजनाथ	३९
१७४	मानवत	२२
१७५	माजलगांव	२५
१७६	पाथ्री	२१
१७७	नारायणपेठ	३१
१७८	भालकी	१४
१७९	पंढरपूर	१८
१८०	आकोट	२४
१८१	फैजपूर	३२
१८२	भुसावल	१४
१८३	बोरीवली	२६
१८४	अनन्तनाग (काश्मीर)	२१
१८५	सागाम (,,)	११
१८६	बहेडी	१२
१८७	उन्हेळ	२१
१८८	नागरकरनूल	१८
१८९	हनमसागर	१७
१९०	एलम	१७
१९१	जफरगढ	१०
१९२	बडवाहा	१५
१९३	गुरुकुल झज्झर	४६
१९४	इन्दुपुर	२०
१९५	बेळगांव	२०
१९६	किशनगढ	४२
१९७	औरंगाबाद	१०
१९८	पटियाला	२२
१९९	गौहाटी	१४
२००	उन्नाव	१८
२०१	यवतमाळ	१०

ॐ

वेदका श्रीमद्भागवतमें दर्शन

वेदोंका संरक्षण करने और वेदमंत्रोंमें जो ज्ञान है वह जनतातक पहुंचानेके लिये अनेक उपाय प्राचीन ऋषियोंने किये, उनमेंसे इतिहास पुराणोंका लेखन यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥२५॥
भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः॥
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ॥२९॥
श्री. भागवत १।४

'स्त्री शूद्र और अज्ञानी द्विज इनको श्रुतिका-वेदमंत्रोंका ज्ञान नहीं होता, पर इनका भी कल्याण होना चाहिये, इसलिये व्यासदेवने महाभारतकी रचना की। भारतके मिषसे वेदका ही अर्थ बताया है। इस भारतसे स्त्री शूद्र आदि लोक अपने अपने धर्मोंको यथायोग्य रीतिसे जान सकते हैं।' जो भारतकी स्थिति है, वही अन्यान्य पुराणोंकी भी है, इसलिये कहते हैं कि—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

इतिहास और पुराणोंसे वेदोंका अर्थ प्रकाशित करना चाहिये। वेदके अर्थको विशद करनेके लिये ही इतिहासों और पुराणोंमें कथाएं तथा अन्यान्य उपदेश लिखे हैं। महाभारतके आख्यान वेदका अर्थ जनताको दर्शानेके लिये ही लिखे हैं। कई यहां कहेंगे कि, इन ग्रंथोंके अन्दर आख्यान और उपाख्यान हैं। इनका वेदोंके साथ क्या संबंध है? उसका स्पष्टीकरण करनेके लिये कहा है—

अजन्माके जन्म

एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च।
वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पते।
श्री. भागवत. १।३।३५

'अकर्ता और अजन्मा परमात्मा है, तथापि अलंकारसे उसके भी जन्म और कर्म, जो वेदमें गुप्त तथा गुह्यरीतिसे बताये हैं, कविलोग कथाओंमें प्रकट रूपसे वर्णन करते हैं।' यही वर्णन इतिहासों और पुराणोंमें है। इस तरह वेदके गुह्य वर्णन अलंकार रूपसे इतिहास पुराणोंमें हैं और इन कथाओंके वर्णनोंसे अनेक धर्म और धर्मानुकूल व्यवहारोंको इन ग्रंथोंमें बताया है। इस कारण कहा जाता है कि इतिहास और पुराणोंसे वेदतत्त्वका उपबृंहण करना चाहिये। इस तरहका वेदोंका जो ज्ञाता होगा उसकी योग्यता कितनी होती है सो देखिये—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥
श्री. भागवत ४।२२।४५; मनु १२।१००

'सेनापतिका कार्य, राज्यशासनका कार्य, दण्ड देनेका न्यायाधीशका कार्य, सब लोगोंका आधिपत्य ये सब कार्य वेद और शास्त्र जाननेवाला कर सकता है।' वेदशास्त्र जाननेवाला सेनापति बनाया जा सकता है, दण्ड देनेका न्यायाधीशका कार्य करनेके लिये उसकी नियुक्ती की जा सकती है, सब लोगोंके आधिपत्य संबंधी जो भी कार्य होंगे, वे सबके सब वेदशास्त्र जाननेवाला कर सकता है। वेदके ज्ञानका इतना महत्त्व था, वह आज रहा नहीं, इसका कारण इतना ही है कि वेदोंका जैसा अध्ययन होना चाहिये वैसा आजकल नहीं होता है। इसलिये वेदोंका अध्ययन उत्तम हो ऐसा प्रबंध करना चाहिये।

ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः॥
श्री. भागवत ३।२९।३७

'मनुष्योंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ, ब्राह्मणोंमें वेदज्ञ श्रेष्ठ और वेदज्ञोंमें वेदमंत्रोंका अर्थ जाननेवाला श्रेष्ठ है' इसका अर्थ वह सब प्रकारके श्रेष्ठ मानवी व्यवहार पवित्रतासे और उत्तमतासे कर सकता है। इसलिये वेदोंका अर्थ उत्तम

रीतिसे जानना चाहिये। यह अर्थज्ञान पुराणमें किस तरह दिया है वह इस लेखमें देखना है। आज इस निबंधमें हम वेदमंत्रोंका अर्थ श्रीमद्भागवतमें किस तरह दिया है वह देखेंगे।

ईश्वरकी व्यापकता

वासुदेवो वसत्येषु सर्वदेहेष्वनन्यदृक्।
येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम्।
यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेदसः ॥९॥
आत्मावास्यमिदं विश्वं यत्किंचिज्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१०॥
श्री. भागवत ८।१।९-

यह अनुवाद ईशउपनिषदका अथवा वा० यजुर्वेदके ४० वें अध्यायके प्रथम मंत्रका है। यह मंत्र देखिये- -

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।
वा० यजु. ४०।१; काण्व यजु. ४०।१; ईश. १

यहां 'ईश' का अर्थ 'आत्मा' किया है। वेदमंत्रके ही पद यहां जैसे के वैसे लिये हैं।

ईशावास्यं इदं सर्वं।
आत्मावास्यं इदं विश्वं।
वासुदेवो वसत्येषु सर्वदेहेषु।

इस तरह यहां अर्थ किया है। आत्मा सर्व पदार्थोंमें है यह इसका भाव स्पष्ट हुआ। इसीका अधिक स्पष्टीकरण

येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम्।

'आत्मा इस सब विश्वमें प्रेरणा करता है, परंतु विश्व इस आत्माको प्रेरित नहीं करता।' यह अधिक स्पष्टीकरण है। केन उपनिषद्में ऐसा ही कहा है—

यत् चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यन्ति।
(इत्यादि०) केन उ. १

'जो आत्मा इस आंखसे नहीं देखता, परंतु जिससे ये हमारे आंख देखते हैं।' यही भाव श्रीमद्भागवतके पूर्वोक्तमंत्रमें अधिक जोडकर यजुर्वेद मंत्रका अधिक सुबोध स्पष्टीकरण किया है। और देखिये—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
वा० य० ४०।६, काण्व० य० ४०।६; ईश ६

इसीका अनुवाद श्रीमद्भागवतमें ऐसा किया है—

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तं अवस्थितम्।
अपश्यत् सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥
श्री भागवत. ३।२४।४६

'सब भूतोंमें आत्मा अथवा भगवान् है और आत्मामें अथवा भगवान्में सब भूत रहे हैं।' इस अनुवादमें आत्माके स्थान में भगवान् शब्द रखकर वेदमंत्रका भाव अधिक स्पष्ट किया है।

विष्णुका वर्णन

ऋग्वेदमें विष्णुका वर्णन इस तरह कहा है—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि
विममे रजांसि। यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं
विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ ऋ. १।१५४।१

इस मंत्रके ही पद लेकर भागवत लेखक कैसी रचना करता है देखिये—

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।
चस्कम्भयः स्वरंहसाऽस्खलता त्रिपृष्ठं
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम् ॥
श्री. भागवत. २।७।४०

यहां शब्द भी वे ही लिये हैं। 'विष्णुके पराक्रमोंकी गणना कौन कर सकता है, जो पराक्रम इसने पृथिवीपर और अन्तरिक्षमें किये हैं' इस तरह सूक्तके सूक्त श्रीमद्भागवतमें अनुवादके साथ दिये हैं। इस अनुवादको देखकर हम इन सूक्तोंका अनुवाद श्रीमद्भागवतकारके समय कैसा किया जाता था, इसका पता लगा सकते हैं। निम्नलिखित श्लोक भी ऊपरके मंत्रके साथ संबंध रखता है—

उरुक्रमस्य चरितं श्रोतृणामघमोचनम् ॥ २८ ॥
पारं महिम्न उरुविक्रमतो गृणानो
यः पार्थिवानि विममे स रजांसि मर्त्यः ॥ २९ ॥
श्री. भागवत ८।२३

यह श्लोक भी पूर्वोक्त मंत्रका ही अनुवाद है। इस रीतिसे वेदमंत्रोंके शब्दोंके शब्द लेकर भागवतमें अनुवाद किया दीखता है।

दो सुपर्ण

दो सुपर्णोंके विषयमें ऐसा ही अनुवाद है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यन-श्नन्यो अभिचाकशीति ।

ऋ. १।१६४।२०; अथर्व ९।९।२०

इसका अनुवाद देखिये—

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे । एकस्तयोः खादति पिप्पला-न्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥ ६ ॥
आत्मानमन्यं च स वेद विद्वानपिप्पलादो न तु पिप्पलादः । योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः ॥७॥

श्री. भागवत ११।११

' दो उत्तम पंखवाले पक्षी हैं, वे दो समान दीखनेवाले मित्र हैं। इन्होंने अपनी इच्छासे वृक्षपर अपने घरोंसे बनाये हैं। इनमेंसे एक मीठा फल खाता है। दूसरा फल नहीं खाता, पर बलसे बहुत बढा हैं। जो फल खाता नहीं वह अपने आपको पृथक् मानता है, परंतु फल खानेवालेको वह ज्ञान नहीं है। वह अविद्याके कारण बद्ध है, पर जो फल न खानेवाला ज्ञानी है, वह नित्य मुक्त है।' इस रीतिसे अर्थ करनेमें विवरण भी अधिक किया है अर्थका स्पष्टीकरण भी अधिक स्पष्ट समझमें आने योग्य है।

दशशत

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।
युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ ऋ. ६।४७।१८

इसमें इन्द्रके रथको दस शत अर्थात् एक सहस्र घोडे जोते हैं ऐसा लिखा है, वही वर्णन भागवतमें है—

ततो रथो मातलिना हरिभिर्दशशतैर्वृतः।
आनीतो द्विपमुत्सृज्य रथमारुरुहे विभुः ॥

श्री भागवत ८।११।१६

'दशशत घोडोंसे घेरा हुआ रथ मातली नामक सारथीने लाया और उसपर इन्द्र चढकर बैठ गया।' 'दश शत हरि' ये पद जैसे वेदमें हैं, वैसे ही भागवतमें हैं। ऐसे पद जैसेके वैसेही रखे हैं, इसलिये कौनसा अनुवाद किस मंत्रका है यह ढूंढना सहज होता है। यहां घोडोंका अर्थ प्रकाश किरण है।

प्रभुके भयसे कार्य

प्रभुके भयसे सब अन्य देव अपने अपने कार्य करते हैं ऐसा उपनिषदोंमें कहा है—

भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

तै. उ. २।८; नृ. पू. २।१०

' इसके भयसे वायु बहता है, सूर्य उदय होता है, अग्नि जलता और इन्द्र चमकता है, और पांचवां मृत्यु भी दौडता है।' यही भागवतमें देखिये—

यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्।
यद्भयाद्वर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात् ॥४०॥
यद्वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह।
स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च ॥४१॥
स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यतः।
अग्निरिन्धे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात् ॥ ४२ ॥
सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः।
जनं जनेन जनयन् मारयन्मृत्युनान्तकम् ॥ ४५ ॥

श्री भागवत ३।२९

' इस प्रभुके भयसे वायु बहता है, सूर्य उसीके भयसे तपता है, इन्द्र उसीके भयसे वृष्टी करता है, चन्द्र और नक्षत्र उसीके भयसे प्रकाशते हैं। वनस्पतियां समयपर फूल और फल देती हैं, नदियां उसीके भयसे भयभीत होकर बह रही हैं, समुद्र अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता, अग्नि जलता है, पृथिवी जलमें डूबती नहीं। मृत्यु वध करता है। यह सब उसी प्रभुके भयसे हो रहा है।'

मूल उपनिषद्वचनमें पांच ही देवताओंके नाम थे, परंतु अनुवाद करनेके समय भागवतकारने बारह देवताओंके नाम लिखे हैं। इस अनुवाद पद्धतिसे ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि, मूल वेद और उपनिषद्में जो कहा है, उसका अधिक विवरण भी करना चाहिये। यह एक नियमसा यहां दीख रहा है। ऊपर जितने अनुवाद दिये हैं उनमें कई स्थानोंमें इस तरह अर्थ बढाया है और पाठक आगे भी देखेंगे कि जो आशय मूल मंत्रमें संक्षेपसे था उसको अनुवादमें भागवतमें थोडा विशद तथा अधिक स्पष्ट किया है।

वत्स और दूध

अथर्ववेदमें कईयोंके वत्सों तथा उसके दूधका वर्णन है देखिये—

१ तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति।
तस्या विरोचनः प्राह्रादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम्।
तां द्विमूर्धार्त्व्योऽधोक् तां मायामेवाधोक् ॥ १-२ ॥

२ तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति।
तस्या यमो राजा वत्स आसीद्रजतपात्रं पात्रम्।
तामन्तको मार्त्यवोऽधोक् तां स्वधामेवाधोक् ॥ ६-७॥

३ तां मनुष्या उपाह्वयन्तेरावत्येहीति।
तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत्पृथिवी पात्रम्।
तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषिं च
सस्यं चाधोक् ॥ १०-११ ॥

४ तां सप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति।
तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम्।
तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक् तां ब्रह्म च
तपश्चाधोक् ॥ १४-१५ ॥

५ तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति।
तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम्।
तां देवः सविताऽधोक् तामूर्जामेवाधोक् ॥ २-३ ॥

६ तां गंधर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति।
तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत्
पुष्करपर्णं पात्रम्।
तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक् तां पुण्यमेव
गन्धमधोक् ॥ ६-७ ॥

तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति।
तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम्।
तां रजतनाभिः काबेरकोऽधोक् तां
तिरोधामेवाधोक् ॥ १०-११

८ तां सर्पा उपाह्वयन्त विषवत्येहीति।
तस्यास्तक्षको वैशालेयो वत्स
आसीदलाबुपात्रं पात्रम्।
तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक् तां विषमेवाधोक् १४-१५

इसका कोष्टक ऐसा बनता है, इसमें किसका कौन वत्स और उसका दूध कौनसा है यह स्पष्ट होता है—

	जाति	वत्सः	दोहनकर्ता	दूध	पात्र
१	असुर	विरोचनः प्रा-ह्रादिः	द्विमूर्धा	माया	अयस्पात्रं
२	पितरः	यमोराजा	अन्तकः, मार्त्यवः	स्वधा	रजतपात्रं
३	मनुष्याः	मनुः वैवस्वतः	पृथी, वन्यः	कृषि, सत्यं	पृथिवी
४	सप्तऋषयः	सोमः राजा	बृहस्पतिः, आंगिरसः	ब्रह्म, तप	छन्दः पात्रं
५	देवाः	इन्द्रः राजा	सविता देवः	ऊर्जा	चमसः पात्रं
६	गंधर्वाप्सरसः	चित्ररथः सौर्यवर्चस	वसुरुचिः, सौर्यवर्चसः	पुण्यः गंध	पुष्करपर्णपात्र
७	इतरजनाः	कुबेरः वैश्रवणः	काबेरकः, रजतनाभिः	तिरोधा	आमपात्रं
८	सर्पाः	तक्षकः, वैशालेयः	धृतराष्ट्रः, ऐरावतः	विषं	अलाबुपात्रं

इस तरह जाती, वत्स, दोहनकर्ता, दूध और पात्रका वर्णन वेदमें है। इसका अनुवाद श्रीमद्भागवतमें देखिये—

वत्सं कृत्वा मनुं पाणावदुहत्सकलौषधीः ॥ १२ ॥
तथा परे च सर्वत्र सारमाददते बुधाः ॥ १३ ॥
ऋषयो दुदुहुर्देवीं इंद्रियेष्वथ सत्तम।
वत्सं बृहस्पतिं कृत्वा पयश्छन्दोमयं शुचि ॥१४॥
कृत्वा वत्सं सुरगणा इन्द्रं सोममदूदुहन्।
हिरण्मयेन पात्रेण वीर्यमोजो बलं पयः ॥ १५ ॥
दैतेया दानवा वत्सं प्रह्रादमसुरर्षभम्।
विधायादूदुहन् क्षीरमयः पात्रे सुरासवम् ॥ १६ ॥
गन्धर्वाप्सरसोऽधुक्षन् पात्रे पद्ममये पयः।
वत्सं विश्वावसुं कृत्वा गान्धर्वं मधुसौभगम् ॥ १७ ॥
वत्सेन पितरोऽर्यम्णा कव्यं क्षीरमधुक्षत।
आमपात्रे महाभागाः श्रद्धया श्राद्धदेवताः ॥ १८ ॥
प्रकल्प्य वत्सं कपिलं सिद्धाः संकल्पनामयीम्।
सिद्धिं नभसि विद्यां च ये च विद्याधरादयः ॥१९॥

अन्ये च मायिनो मायां अन्तर्धानाद्भुतात्मनाम् ।
मयं प्रकल्प्य वत्सं ते दुदुहुर्धारणामयीम् ॥ २० ॥
यक्षरक्षांसि भूतानि पिशाचाः पिशिताशनाः ।
भूतेशवत्सा दुदुहुः कपाले क्षतजासवम् ॥ २१ ॥
तथाऽहयो दन्दशूकाः सर्पा नागाश्च तक्षकम् ।
विधाय वत्सं दुदुहु बिलपात्रे विषं पयः ॥ २२ ॥
पशवो यवसं क्षीरं वत्सं कृत्वा च गोवृषम् ।
अरण्यपात्रे चाधुक्षन् मृगेन्द्रेण च दंष्ट्रिणः ॥ २३ ॥
क्रव्यादाः प्राणिनः क्रव्यं दुदुहुः स्वे कलेवरे ।
सुपूर्णवत्सा विहगाश्चरं चाचरमेव च ॥ २४ ॥
वटवत्सा वनस्पतयः पृथग्रसमयं पयः ।
गिरयो हिमवद्वत्सा नाना धातून्स्वसानुषु ॥ २५ ॥
सर्वे स्वमुख्यवत्सेन स्वे स्वे पात्रे पृथक् पयः ।

श्री. भागवत ४।१८

इस श्रीमद्भागवतके वर्णनसे कैसा कोष्टक बनता है सो अब देखिये—

	वत्स	दूध	पात्र
भूपति	मनु	औषधीः	पाणी
ऋषि	बृहस्पति	छन्द	इन्द्रियां
देवाः	इन्द्र	सोम	हिरण्मयपात्र
		वीर्य, बल, ओजः	
दैत्याः	प्रल्हाद	सुरा, आसवं	अयःपात्र
दानवाः			
गन्धर्वाः	विश्वावसु	मधुसौभगं	पद्मपत्रे
अप्सरसः			
पितरः	अर्यमा	कव्यंक्षीरं	आमपात्रे
सिद्धाः	कपिलः	सिद्धिविद्या	
मायिनः	मय	माया	
असुराः			
पिशाचाः	भूतेश	क्षतजासवं	कपालं
सर्पाः	तक्षकः	विषं	बिलपात्रे
नागाः			
पशवः	गोवृषः	क्षीरं	अरण्यपात्रे
दंष्ट्रिणः	मृगेन्द्रः	क्रव्यं	कलेवरे
क्रव्यादाः			
विहगाः	वत्साः	चराचर	,,
पक्षिणः			
वनस्पतयः	वटः	रसः	कलेवरे
गिरयः	हिमवान्	धातवः	स्वसानुषु

इस तरह भूमिसे प्रत्येक जातीने अपना वत्स निर्माण किया और अपने लिये जो दूध चाहिये वह भूमिसे निकाला। यह वर्णन जैसा अथर्ववेदमें है वैसा श्रीमद्भागवतमें है। अथर्ववेदसे ही यह लिया है और थोडा बढा दिया है। दैत्योंने सुरा और आसव निर्माण किया और वह वे पीने लगे, ऋषियोंने वेदमंत्रोंका ज्ञानरूपी दूध लिया और वे मानवधर्मका मनन करने लगे, राजाओंने औषधियोंकी वाढ की और अन्न निर्माण किया, देवोंने सोमरसका पान किया और अपना बल बढाया, गन्धर्वोंने मधका पान किया, पितरोंने दूध पिया, कपटी असुरोंने कपट करनेका कार्य किया, पिशाचोंने रक्त पीना अच्छा मान लिया, सिद्धोंने नाना प्रकारकी विद्याओंकी सिद्धि प्राप्त की, सांपोंने विष निर्माण किया और उसका धारण किया, पशुओंने दूध निर्माण किया, मांस खानेवाले पशुओंने मांस खाना शुरू किया, वृक्षोंने नाना प्रकारके रस निर्माण किये, पर्वतोंने नाना प्रकारके धातु उत्पन्न करके धारण किये। इस रीतिसे एक ही पृथ्वीसे अनेकोंने अनेक रस लेनेका प्रारंभ किया।

यहां पाठक देखेंगे कि जो अथर्ववेदमें था वही यहां भागवतके लेखकने लिया और थोडा और भी बढाया है। और ' वेदं समुपबृंहयेत् ' वेदके अर्थका उपबृंहण करना चाहिये ऐसा जो कहा था, वह उपबृंहण इस तरह किया गया है, भागवतकारने यह स्वयं करके बताया है। इस रीतिको स्वीकार करके हम भी इस पद्धतिसे वेदमंत्रोंका उपबृंहण कर सकते हैं।

वेद मुख्य विषयको संक्षेपसे कहता है, उसका मनन करके अधिक विस्तार करना चाहिये। यह विस्तार किस पद्धतिसे करना चाहिये वह पद्धति भागवतकारने यहां बतायी है।

द्वादशार चक्र

वेदमें द्वादशार चक्र अर्थात् संवत्सर चक्रका वर्णन इस तरह किया है—

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे
अर्धे पुरीषिणम् ।

अर्धेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर
आहुरर्पितम् ॥ ११ ॥
द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि
विंशतिश्च तस्थुः ॥ ११ ॥
पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि
विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न
शीर्यते सनाभिः ॥ १३ ॥

ऋ. १।१६४

पांच पांव, बारह आकृति, सात चक्र और छः आरे जिसमें हैं ऐसा यह एक विशाल चक्र है। यह कालचक्र है। सब भुवन इसी चक्रके आधारसे रहते हैं। इस संवत्सर चक्रका वर्णन इन मंत्रोंमें है। इसीका अनुवाद भागवतमें इस तरह है—

तस्यैकं चक्रं द्वादशारं षण्नेमि त्रिणाभि
संवत्सरात्मकं समामनन्ति तस्याक्षो
मेरोर्मूर्धनि कृतो मानसोत्तरे कृतेतरभागो
यत्र प्रोतं रविरथचक्रं तैलयन्त्रचक्रवत्
भ्रमन् मानसोत्तरगिरौ परिभ्रमति ॥

श्री. भागवत ५।२१।१३

'उस रथका एक चक्र बारह आरोंवाला छः नेमीवाला, तीन नाभीयोंसे युक्त है, इसीको संवत्सरचक्र कहते हैं। इस चक्रका अक्ष मेरुपर्वतके ऊपर मानससरोवरके उत्तरभागमें लगा है। तेल निकालनेके यन्त्रके चक्रके समान यह घूमता है।'

इस प्रकार वेही वेदके पद लेकर अपना अनुवाद भागवतकारने लिखा है। इस तरह यह अनुवाद मूल मन्त्रके साथ तुलना करके देखने योग्य है।

शरीर रथ

शरीरका रथरूपसे वर्णन वेदमंत्रमें है—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभी-
शुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

वा. य. ३४।६

'उत्तम सारथी जैसा लगामोंसे रथके घोडोंको ठीक तरह चलाता है वैसा हृदयमें बैठा हुआ मन सब इंद्रियरूपी घोडोंको चलाता है, वह मेरा मन शुभसंकल्प करनेवाला हो।' तथा उपनिषदोंमें—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥
इंद्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

कठ ३।३-४

'आत्मा रथी, शरीर रथ, बुद्धि सारथी, मन लगाम, इंद्रियाँ घोडे हैं। ये घोडे विषयोंके खेतमें विचरते हैं। आत्मा-इन्द्रिय-मन मिलकर भोक्ता होता है।'

इसका भागवतमें अनुवाद कैसा किया है सो अब देखिये-

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि हयानभीषून्मन
इन्द्रियेशम्। वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं
सत्त्वं बृहद्बन्धुरमीशसृष्टम् ॥ ४१ ॥ अक्षं दश
प्राणमधर्मधर्मौ चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम्।
धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति शरं तु जीवं परमेव
लक्ष्यम् ॥४२॥ रागो द्वेषश्च लोभश्च शोकमोहौ
भयं मदः। मानोऽवमानोऽसूया च मायाहिंसा
च मत्सरः ॥४३॥ रजः प्रमादः क्षुन्निद्रा
शत्रवस्त्वेवमादयः। यावन्नृकायरथमात्मवशो-
पकल्पं धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम्।
ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः स्वाराज्य-
तुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात् ॥ ४७ ॥

श्री. भागवत ७।१५

'शरीर रथ है, इन्द्रियां घोडे हैं, लगाम मन है यह मन इंद्रियोंको चलाता है, इन घोडोंका मार्ग प्राकृतिक भोगोंका मार्ग है, बुद्धि सारथी है, दश प्राणोंका अक्ष बनाया है, अधर्म और धर्म ये चक्र हैं, अभिमानी जीव इस रथमें बैठनेवाला स्वामी है, इसके हाथमें ओंकारका धनुष्य है, बाण ही जीव है और परब्रह्म लक्ष्य है जिसपर जीवरूपी बाणने जाकर गिरना है। भोग प्रेम, द्वेष, लोभ, शोक, मोह, भय, गर्व, मान, अपमान, ईर्ष्या, कपट, हिंसा, मत्सर, भोगवृत्ती बढानेवाला रजोगुण; प्रमाद, क्षुधा, निद्रा, ये सब इसके शत्रु हैं जो इस पर हमला

करना चाहते हैं। जबतक इस शरीररूपी रथको अपने आधीन यह रखता है, श्रेष्ठ गुरुजनोंकी उपासना करता है, ज्ञानरूपी शस्त्र धारण करता है, तबतक बलवान होता है, शत्रुको परास्त करता है, अपना स्वराज्य प्राप्त करता है, इस स्वराज्यसे सन्तुष्ट होता है और आनन्दित होता है।

जो ऐसा नहीं करता है उसका नाश होता है। यह अनुवाद और भी है परंतु यहां इतना ही दिया है। मंत्रके भावको बढानेकी रीति यहां इस रीतिसे अच्छी तरह ध्यानमें आ जाती है। 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इतिहास और पुराणोंसे वेदोंके अर्थका अधिक विस्तार करके बताना चाहिये। इस कथनका यह अर्थ है। इस तरह वेदमंत्रोंका रहस्य अच्छी तरह खुल जाता है। और वेदका गौरव भी बढता है।

सहस्रशीर्षा पुरुष

विश्वरूपी परमेश्वरका वर्णन वेदमें अनेक स्थानोंपर है। परंतु पुरुष सूक्तमें वह विशेष स्पष्ट है। वह यहां प्रथम देखिये—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ १ ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ॥ २ ॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ॥ ४ ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयन् ॥ १४
ऋ. १०।९०

'हजारों मुखोंवाला पुरुष अर्थात् परमेश्वर है। इसको हजारों आंख हैं, हजारों पांव हैं। जो कुछ भूतकालमें हुआ, जो भविष्यमें होगा और जो वर्तमान समयमें है, वह सब पुरुष ही है अर्थात् वह ईश्वर ही है। इसके तीन भाग ऊपर हैं और एक भागसे ही यह विश्व वारंवार बनता रहता है। इसका मुख ब्राह्मण है, बाहू क्षत्रिय हैं, वैश्य पेट या जांघें हैं और शूद्र पांव हैं। चन्द्रमा मन है, आंख सूर्य है, मुख इन्द्र और अग्नि है, प्राणवायु है। नाभी अन्तरिक्ष है, सिर द्युलोक है, पांव भूमि है और अन्य अवयवों की कल्पना अन्य लोकोंके स्थानमें की है।'

संपूर्ण विश्वमें जो प्राणी हैं उनके सिर बाहू पेट और पांव इस परमेश्वरके सिर, बाहू, पेट और पांव हैं। संपूर्ण प्राणी और सूर्यादि लोक इसके शरीरके अंग प्रत्यंग हैं। इसका वर्णन वेदमें और भी है वह अब देखिये—

सहस्रबाहुः पुरुषः। अथर्व १९।६

हजारों बाहुओंवाला पुरुष है। अर्थात् सब प्राणियोंके जो बाहु हैं वे इस ईश्वरके बाहु हैं। और भी देखिये—

यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः ॥ १२ ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः ॥ १३ ॥
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः ॥ १५ ॥
यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरंगिरसोऽभवन्।
अंगानि यस्य यातवः स्कंभं तं ब्रूहि ॥ १८ ॥
यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥२२॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥
यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३२॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३३॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३४॥
अथर्व. १०।७

जिस परमेश्वरके विश्व शरीरमें भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक रहे हैं। जिसमें अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य तथा वायु रखे गये हैं, जिस परमेश्वरके विश्वरूप देहमें सब तैंतीस देव हैं, समुद्र तथा नदियां जिसके शरीरकी नाडियां हैं, जिस परमेश्वरका सिर वैश्वानर अग्नि है, आंख अंगिरस है और शरीरके विभाग सब प्राणी बने हैं वह सर्वाधार ईश्वर है। जिस परमेश्वरके विश्वदेहमें द्वादश आदित्य, ग्यारह रुद्र और अष्ट वसु रहे हैं। भूतकालमें जो हो चुका था, भविष्यमें जो होगा, और वर्तमानकालमें जो है, वह सब जिसमें

रहा है, जिसके शरीरके अंगोंमें तैंतीस देव विभक्त होकर रहे हैं, उन तैंतीस देवोंको अकेले ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। भूमि जिसका पांवका प्रमाण है, अन्तरिक्ष जिस ईश्वरका पेट है, द्युलोकको जिसने अपना सिर बनाया है उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा प्रणाम है। जिस ईश्वरके देहका एक आंख सूर्य है, दूसरा आंख चन्द्रमा है, अग्नि जिसका मुख है उस श्रेष्ठ ब्रह्मको मेरा प्रणाम है। जिसके शरीरमें वायु प्राण बना है, आंख अंगिरस अग्नि बना है, दिशाएं जिसके कान है उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा प्रणाम है।

इन अथर्ववेदके मंत्रोंमें ज्येष्ठ ब्रह्मके विश्वदेहका वर्णन है। इसका देह इन सब तैंतीस देवोंका ही बना है। इस ब्रह्मके शरीरमें पृथिवी पांव है, अन्तरिक्ष पेट है, नस नाडियां नदियां हैं, मुख अग्नि है, सूर्यचन्द्र आंख है, जल जिव्हा है, दिशाएं कान है, वायु प्राण है, द्यु सिर हैं और अन्य देव अन्य अवयवोंमें रहे हैं। ब्रह्मके विश्व शरीरका यह वर्णन है। विश्वरूपी पुरिमें रहता है इसलिये इसको विश्वरूप प्रभु कहते हैं। यह तो वेदमंत्रोंमें विराट् पुरुषका वर्णन है। इसी विराट् पुरुषका वर्णन अब श्रीमद्भागवतमें कैसा किया है सो देखिये—

यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्वमूर्जितम् ॥ ३ ॥
पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा
सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्।
सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं
सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥ ४ ॥

श्री. भागवत १।३

'परमेश्वरके स्थूल देहके नाना अवयवोंमें अनेक लोकोंका विस्तार है ऐसा कवि कहते हैं। यह भगवानका विश्वरूप विशुद्ध और सात्त्विकरूप है। इस भगवानका यह रूप निश्चल दृष्टीसे लोग देखते हैं, इसमें सहस्रों सिर, कान, आंख, नासिकाएं आदि अवयव हैं, इसमें सहस्रों मुकुट, वस्त्र, और कुण्डल चमक रहे हैं।'

सहस्रों सिरोंपर सहस्रों मुकुट होंगे और सहस्रों देहोंपर हजारों वस्त्र अवश्य होंगे ही। सहस्रों कानोंमें सहस्रों कुण्डल भी अवश्य होंगे। अर्थात् हजारों मानवोंका समुदाय ही इस भगवानके देहमें है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इस भगवानके सिर बाहु उदर और हाथ हैं, इसलिये मुकुट वस्त्र आदि जो इन वर्णोंके लोगोंने पहने हैं, वे भगवानने ही पहने हैं। इस तरह यह विश्वरूपी भगवान का वर्णन है। और देखिये—

विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम्।
अत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतंभव्यं भवच्च यत् ॥२४॥
आण्डकोशे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरणसंयुते।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणा-
श्रयः ॥ २५ ॥ पातालमेतस्य हि पादमूलं
पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम्। महातलं
विश्वसृजोऽथ गुल्फौ तलातलं वै पुरुषस्य
जंघे ॥ २६ ॥ द्वेजानुनी सुतलं विश्वभूतेरूरुद्वयं
वितलं चातलं च। महीतलं तज्जघनं महीपते
नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति ॥ २७ ॥ उरस्थलं
ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य।
ततो रसाटं विदुरादिपुंसः सत्यं तु शीर्षाणि
सहस्रशीर्ष्णः ॥ २८ ॥ इन्द्रादयो बाहव आहु-
रुस्राः कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः।
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणोऽस्य गन्धो
मुखमग्निरिद्धः ॥२९॥ द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतङ्गः
पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च। तद्भ्रूविजृम्भः
परमेष्ठिधिष्ण्यमापोऽस्य तालू रस एव
जिह्वा ॥ ३० ॥ कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ
कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसंघाः ॥ ३२ ॥
नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि महीरुहा
विश्वतनोर्नृपेन्द्र। अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च
सचन्द्रमाः सर्वविकारकोशः ॥ ३४ ॥ ब्रह्माननं
क्षत्रभुजो महात्मा विड्रूरुरंघ्रिश्रितकृष्णवर्णः।

श्री भागवत २।१

'विशेष करके भगवानका स्थूल शरीर यह विश्व ही है। इसमें भूत भविष्य वर्तमानमें जो है वह सब आ जाता है। इस भगवानके शरीरमें सात आवरण हैं। पाताल इसके पांव हैं, रसातल पार्ष्णि हैं, महातल गुल्फ हैं, तलातल पिंडरियां हैं सुतल दोनों जांघें हैं, वितल और अतल दोनों घुटने हैं, महीतल जघन है, नभस्तल नाभी है, छाती ज्योतिमंडल है, महर्लोक गला है, जनोलोक मुख है, ललाट तपोलोक है और सत्य लोक सिर है। इन्द्रादि अन्य देव

परमात्माके बाहु हैं, दिशाएं कान हैं, श्रवण शब्द हैं, अश्विनीकुमार नासाछिद्र हैं, गन्ध घ्राण है, मुख अग्नि है, द्युलोक आंख है, सूर्य नेत्र है, दिनरात्र फलकें हैं। जल तालु है, जिह्वा रस है। ब्रह्मा शिश्न है, मित्रावरुण अण्ड हैं, कुक्षि समुद्र है, पर्वत हड्डियां है, नदियां नाडियां हैं, बाल वनस्पतियां हैं, अव्यक्त प्रकृति हृदय है, मन चन्द्रमा है, ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय बाहु है, वैश्य ऊरु है और शूद्र पांव है ऐसा यह विश्व इस विश्वव्यापी भगवानका शरीर है।'

इसी तरह और भी देखिये—

सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान् ॥ ३५ ॥
यस्येहावयवैर्लोकान्कल्पयन्ति मनीषिणः ।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः ॥ ३६ ॥
पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः ।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत ॥ ३७॥
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ।
स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोककल्पना ॥४२

श्री भागवत २।५

'सहस्रों ऊरु, पांव, नेत्र, मुख और सिर जिस भगवान के हैं। जिसके अवयवोंमें नाना लोकोंकी कल्पना की है। कटीसे नीचे सात लोक और ऊपर सात लोक हैं। इस भगवान्‌के मुख बाहु ऊरु और पांव क्रमसे ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य शूद्र हैं। भूलोक पांव, भुवर्लोक नाभी और स्वर्लोक सिर है इस तरह भी परमेश्वरके शरीरमें सब लोकोंकी कल्पना की है।

और भी इसी विराट् पुरुषका वर्णन देखिये—

सुरासुरनरा नागाः खगा मृगसरीसृपाः ।
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः ॥ १३ ॥
पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः ।
अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः ॥ १४ ॥
ग्रहर्क्षकेतवस्तारास्तडितस्तनयित्नवः ।
सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् ॥ १५ ॥
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ॥ १६ ॥
एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमान् ॥
सोऽमृतत्वस्याभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात् ॥१७॥

श्री भागवत २।६

'सुर, असुर, नाग, पक्षी, मृग, अलजन्तु, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, भूतगण, उरग, (सर्प) पशु, पितर, सिद्ध, विद्याधर, चारण, वृक्ष, जो अन्यान्य जीव हैं, जो जलस्थल और आकाशमें रहते हैं, जो ग्रह, नक्षत्र, तारागण हैं, बिजलियां और प्रकाशवाले पदार्थ हैं, यह सब जो तीनों कालोंमें रहता है वह सब (पुरुषः एव) पुरुष अर्थात् परमेश्वर ही है। यह सब विश्व उसके वितस्तिपरिमित स्थानमें है ऐसा समझो। यह ईश्वर सर्वत्र व्यापकर रहा है। यह अन्दर और बाहर सर्वत्र प्रकाशता है। यह अमृतत्वका और अभयका स्वामी है।'

इसमें पुरुषसूक्तके ही मंत्रभाग जैसेके वैसे लिये हैं। पुरुष सूक्तमें ये मंत्र भाग हैं—

१ पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं ।
२ अमृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति । (ऋ य.)
अमृतत्वस्येश्वरो यदन्नेनाभवत्सह । (अथ)
३ अत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ।

ये मंत्र भाग थोडे हेरफेरसे इन श्लोकोंमें हैं। तथा—

४ गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ।

गौवें घोडे और भेड, बकरियां उस ईश्वरसे बनी अथवा इन रूपोंको ईश्वरने धारण किया ऐसा कहा है, वही अधिक नामोंको लिखकर भागवतकारने अधिक स्पष्ट किया है। ये सब रूप ईश्वरके हैं अर्थात् यह विश्वरूप ईश्वरका रूप है। और देखिये—

एवं सहस्रवदनांघ्रिशिरः करोरुनासास्यकर्ण-
नयनाभरणायुधाढ्यम् । मायामयं सदुपल-
क्षितसंनिवेशं दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चः॥

श्री भागवत ७।९।३६

'सहस्रों मुख, पांव, सिर, हात, जंघा, नाक, कान, नेत्र जिसके हैं, उस महापुरुष परमेश्वरका मायामय शरीर देखकर ब्रह्मदेवको बडा आनंद हुआ।' अर्थात् परमेश्वरका यह विश्वरूप शरीर है और उसमें हजारों प्राणियोंके मुख आदि अवयव हजारों हैं यह परमेश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन है।

पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य चतुर्विधो यत्र हि
भूतसर्गः । स वै महापुरुष आत्मतन्त्रः प्रसी-
दतां ब्रह्ममहाविभूतिः ॥ ३१ ॥ अम्भस्तु यद्रेत

उदारवीर्यं सिध्यन्ति जीवन्त्युत वर्धमानाः ॥
लोकाख्ययोऽथाखिललोकपालाः प्रसीदतां
ब्रह्ममहाविभूतिः ॥ ३३ ॥ सोमं मनो यस्य
समामनन्ति दिवौकसां वै बलमन्ध आयुः॥३४
अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदा जातः क्रियाकाण्ड-
निमित्तजन्म ॥३५॥ यच्चक्षुरासीत्तरणिर्देवयानं
त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम् ॥ ३६ ॥
प्राणादभूद्यस्य चराचराणां प्राणः सहो
बलमोजश्च वायुः ॥ ३७ ॥ श्रोत्राद्दिशो यस्य
हृदश्च खानि प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः ॥३८
विप्रो मुखं ब्रह्म च यस्य गुह्यं राजन्य आसीत्
भुजयोर्बलं च ॥ ऊर्वोर्विडोजोऽङ्घ्रिरवेद शूद्रो
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ४१ ॥

श्री. भागवत ८।५

'परमेश्वरके पांव पृथिवी हैं, जल रेत है, चन्द्र मन है, अग्नि मुख है, आंख सूर्य है, प्राण वायु है, कान दिशा हैं ब्राह्मण मुख हैं, क्षत्रिय बाहू हैं, ऊरु वैश्य और पांव शूद्र हैं। ऐसा यह महाविभूति परमेश्वर विश्वरूपी है।' इसको ऐसा समझकर इसकी उपासना इसे विश्वरूप मानकर करनी चाहिये। अर्थात् विश्वमें जो वस्तु अपने सामने आ जाय उसे परमेश्वरका देहांश मानकर उसके साथ सद्व्यवहार करना चाहिये। तथा और देखिये—

अग्निर्मुखं तेऽवनिरंघ्रिरीक्षणं सूर्यो, नभो नाभि-
रथो दिशः श्रुतिः। द्यौः सुरेन्द्रास्तव बाहवो-
ऽर्णवाः कुक्षिर्मरुत्प्राणबलं प्रकल्पितम् ॥ १३ ॥
रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा मेघाः परस्या-
स्थिनखानि तेऽद्रयः। निमेषणं राज्यहनी
प्रजापतिर्मेढ्रस्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते ॥१४॥
त्वय्यव्ययात्मन् पुरुषे प्रकल्पिता लोकाः
सपाला बहुजीव संकुलाः। यथा जले संजिहते
जलौकसोऽप्युदुम्बरे वा मशका मनोमये ॥१५॥

श्री भागवत १०।४०

'भगवान्‌का मुख अग्नि है, भूमि पांव है, नेत्र सूर्य है, अन्तरिक्ष नाभी है, कान दिशा है, द्युलोक सिर है, इन्द्रादि देव बाहु हैं, समुद्र कुक्षि है, वायु प्राण है, बाल औषधि वनस्पतियां हैं, हड्डियां पर्वत हैं, आंखोंकी पलकें दिनरात हैं, प्रजापति शिश्न है, जलवृष्टि वीर्य है। इस तरह ईश्वरके अव्यय आत्मामें इन लोकोंकी कल्पना की है। सब जीव ईश्वरके विश्व शरीरमें ऐसे हैं कि जैसे जलमें जलकृमि और उदुम्बरमें मक्खियां होती हैं।'

इस तरह भगवान्‌के विश्वरूप देहका वर्णन जैसा वेदमें किया है वैसा ही श्रीमद्भागवतमें किया है। और भी देखिये—

हरिका शरीर

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि
दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किं च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥

श्री भा. ११।२।४१

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, सूर्यादि तेजो गोल, दिशा, वृक्ष, नदियां, समुद्र यह सब ईश्वरका शरीर (हरेः शरीरं) है, इसलिये जिस वस्तुको देखा जाय, वह अपनेसे पृथक् नहीं (अन्-अन्यः) ऐसा समझकर, उसको परमेश्वरका शरीर मानकर प्रणाम करना योग्य है।' अर्थात् जो जो वस्तु इस विश्वमें है वह सब परमेश्वरका देह है ऐसा समझकर उसका आदर करना चाहिये। 'विश्वरूप ईश्वर' है इसका यही तात्पर्य है। इसको वैसा ही जानना चाहिये। प्रत्येक वस्तु इस तरह परमेश्वरका स्वरूप है, इस कारण प्रतिवस्तुका सुयोग्य आदर करने योग्य है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी यही कहा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेय मितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

भ. गीता ७

'पृथिवी, आप, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार और जीव यह नौ प्रकारकी मेरी शरीर प्रकृति है।' अर्थात् यह पंचभूतात्मक सब विश्व परमेश्वरका शरीर है ऐसा मानना योग्य है। गीताका यही मन्तव्य है जो वेदानुकूल है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

सर्वभूतात्मविग्रहम्। भजस्व।

श्री भागवत ४।१२।५

" सब भूत-सब पंचमहाभूतोंसे जो विश्व बना है वही जिसका शरीर है। उसकी भक्ति कर। " यहां ' विग्रह ' का अर्थ ' शरीर ' है। इसी विराट् पुरुषका वर्णन श्रीमद्भागवत में इस प्रकार लिखा है—

वान्हिर्वाचा मुखं भेजे। प्राणेन नासिके वायुः।
आक्षिणी चक्षुरादित्यः। श्रोत्रेण कर्णौ च दिशः।
त्वचं रोमभिरोषध्यः। रेतसा शिश्नमापस्तु।
गुदं मृत्युरपानेन। हस्ताविन्द्रो बलेनैव।
विष्णुर्गत्यैव चरणौ। नाडीर्नद्यो लोहितेन।
क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुः। हृदयं मनसा चन्द्रः।
बुद्ध्या ब्रह्मापि हृदयं। रुद्रोऽभिमत्या हृदयं।
चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञ प्राविशत्तदा।
विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत॥

श्री. भागवत ३।२६।६३-७०

इन श्लोकोंमें जो देवता जहां रहे ऐसा कहा है उससे ऐसा कोष्टक बनता है—

अग्नि	वाणीके रूपसे	मुखमें प्रविष्ट हुआ।	
वायु	प्राण ,,	नासिका	,,
आदित्य	चक्षु ,,	आंखों	,,
दिशा	श्रोत्र ,,	कर्ण	,,
ओषधियां	रोम ,,	त्वचा	,,
आपः	रेतः ,,	शिश्न	,,
मृत्युः	अपान ,,	गुदा	,,
इन्द्रः	बल ,,	हाथों	,,
विष्णु	गति ,,	चरण	,,
नदियां	लोहित ,,	नाडियों	,,
समुद्र	क्षुधातृषा,,	उदर	,,
चन्द्र	मन ,,	हृदय	,,
ब्रह्मा	बुद्धि ,,	,,	,,
रुद्र	अभिमान,,	,,	,,
चैत्यः	चित्त ,,	,,	,,

यहां १५ देवताएं इस तरह इन स्थानोंमें शरीरमें रहने लगी ऐसा कहा है। वास्तवमें ३३ देवताओंका निवास शरीरमें हुआ है और ३४ वां आत्मा है। पर यहां १५ ही देवताओंका निर्देश है। इसके विपरीत वर्णन भी है वह अब देखिये —

निरभिद्यतास्य प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत्॥
वाण्या वह्निरथो नासे प्राणोऽतो घ्राण एतयोः॥५४॥
प्राणाद्वायुरभिद्येतामक्षिणी चक्षुरेतयोः।
तस्मात्सूर्यो व्यभिद्येतां कर्णौ श्रोत्रं ततो दिशः॥५५॥
निर्बिभेद विराजस्त्वग्रोमश्मश्र्वादयस्ततः।
तत ओषधयश्चासन् शिश्नं निर्बिभिदे ततः॥ ५६॥
रेतस्तस्मादाप आसन् निरभिद्यत वै गुदम्।
गुदादपानोऽपानाच्च मृत्युर्लोकभयंकरः॥ ५७॥
हस्तौ च निरभिद्येतां बलं ताभ्यां ततः स्वराट्।
पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरिः॥५८॥
नाड्योऽस्य निरभिद्यन्त ताभ्यो लोहितमाभृतम्।
नद्यस्ततः समभवन्नुदरं निरभिद्यत॥ ५९॥
क्षुत्पिपासे ततः स्यातां समुद्रस्त्वेतयोरभूत।
अथास्य हृदयं भिन्नं हृदयान्मन उत्थितम्॥ ६०॥
मनसश्चन्द्रमा जातो बुद्धिर्बुद्धेर्गिरां पतिः।
अहंकारस्ततो रुद्रश्चित्तं चैत्यस्ततोऽभवत्॥ ६१॥

श्री भागवत ३।२६

इन श्लोकोंमें जो कहा है उससे जो कोष्टक बनता है वह ऐसा है—

मुख उत्पन्न हुआ, उससे वाणी और उससे अग्नि हुआ

नाक	,,	,,	प्राण	,,	वायु
नेत्र	,,	,,	चक्षु	,,	सूर्य
कान	,,	,,	श्रोत्र	,,	दिशा
त्वचा	,,	,,	रोम	,,	औषधियाँ
शिश्न	,,	,,	रेत	,,	आपः
गुदा	,,	,,	अपान	,,	मृत्यु
हाथ	,,	,,	बल	,,	इन्द्र (स्वराट्)
पांव	,,	,,	गति	,,	हरि (विष्णु)
नाडियां	,,	,,	रुधिर	,,	नदियाँ
उदर	,,	,,	क्षुधाप्यास	,,	समुद्र
हृदय	,,	,,	मन	,,	चन्द्रमाः
बुद्धिः	,,	,,	ज्ञान	,,	बृहस्पतिः
अहंकार	,,	,,	चित्त	,,	रुद्र

इस तरह वही चित्रपट यहां उलटा रखा है। ऐतरेय उपनिषदमें यही कहा है, पर इतना ही फरक है कि

ऐतरेयमें देवताएं थोडी हैं और यहां अधिक हैं। देखिये ऐतरेय का वचन ऐसा है—

मुखं निरभिद्यत, मुखाद्वाक्, वाचो अग्निः, नासिके निरभिद्येतां, नासिकाभ्यां प्राणः, प्राणाद्वायुः, अक्षिणी निरभिद्येतां, अक्षिभ्यां चक्षुः, चक्षुष आदित्यः, कर्णौ निरभिद्येतां, कर्णाभ्यां श्रोत्रं, श्रोत्राद्दिशः, त्वङ् निरभिद्यत, त्वचो लोमानि, लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः, हृदयं निरभिद्यत, हृदयान्मनः, मनसश्चन्द्रमाः, नाभिर्निरभिद्यत, नाभ्या अपानो, ऽपानान्मृत्युः, शिश्नं निरभिद्यत, शिश्नाद्रेतः, रेतस आपः ॥ ऐ. उ. १।१

यहां विराट् पुरुषके मुख, नासिका, नेत्र, कर्ण, त्वचा, हृदय, नाभि और शिश्नसे क्रमपूर्वक वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, लोम, मन, अपान और रेत हुए और इनसे क्रमशः अग्नि, वायु, सूर्य, दिशा, वनस्पतियाँ, चन्द्रमा, मृत्यु और आप् उत्पन्न हुआ ऐसा कहा है। यहां आठ देवताओंका वर्णन है। इसके अंश पुरुषके शरीरमें कैसे जाकर वसे इसका वर्णन अब देखिये —

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्,
वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्,
आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्,
दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्,
ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्,
चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्,
मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्,
आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्।

ऐ. उ. १।२

अग्नि वाणी बनकर मुखमें प्रविष्ट हुआ, वायु प्राण बन कर नासिकामें प्रविष्ट हुआ, सूर्य आंख बनकर नेत्रमें प्रविष्ट हुआ, दिशा श्रोत्र बनकर कानमें प्रविष्ट हुईं, ओषधि वनस्पतियां बाल बनकर त्वचामें प्रविष्ट हुईं, चन्द्रमा मन बनकर हृदयमें प्रविष्ट हुआ, मृत्यु अपान बनकर नाभिमें प्रविष्ट हुआ, आप रेत बनकर शिश्नमें प्रविष्ट हुआ। इस तरह विश्वमें जो देवताएं हैं वे सब देवताएं अंशरूपसे इस शरीरमें प्रविष्ट हुई हैं और इन देवताओंके अंशोंसे यह शरीर बना है।

यह जो वर्णन इस ऐतरेय उपनिषद्में है वही ऊपरके श्रीमद्भागवतके श्लोकोंमें है, केवल और अधिक देवताओंके नाम वहां अधिक लिखे हैं। यही वर्णन वेदमंत्रमें ऐसा ही है देखिये—

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा ॥ ३ ॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रं अक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ् मनः ते वा आकूतिमावहन् ॥४॥
ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोकमासते ॥ १० ॥

अथर्व ११.८

दस देवोंसे पूर्व समयमें दस देव उत्पन्न हुए। प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति, क्षिति, व्यान, उदान, वाक्, मन ये शरीरमें कार्य करनेवाले देवोंसे उत्पन्न हुए इंद्रिय गण हैं, अवयव हैं। ये बाह्य वायु सूर्य आदि देवोंके अंश अथवा पुत्र हैं। विश्वमें रहनेवाले बडे दस देवोंने शरीरमें रहनेवाले इन दस देवों-इंद्रियोंको उत्पन्न किया और अपने इन पुत्रोंको शरीरमें योग्य स्थान दिया और वे बडे विशाल देव अपने अपने स्थानमें जाकर रहने लगे।

इसीका वर्णन पुरुष सूक्तमें भी है जैसा—

चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत।

ऋ० १०।९०

'मनसे चन्द्रमा हुआ और आंखसे सूर्य हुआ।' इसीको हम ऐसा भी कह सकते हैं-'चन्द्रमासे मन हुआ और सूर्यसे आंख बना।' यह उलटा और सुलटा दोनों ओरसे कहा जा सकता है। वैसे वर्णन सर्वत्र हैं भी।

अर्थात् जो वेदमंत्रोंमें है, वही उपनिषदोंमें है और वही श्रीमद्भागवतमें है। फरक इतना ही है कि वेद मंत्रोंकी अपेक्षासे उपनिषदोंमें अधिक देवताएं ली हैं और उससे भी अधिक देवताएं श्रीमद्भागवतमें हैं। पर तत्त्वदृष्टया वेदकी ही बात उपनिषदोंमें है और उपनिषदोंकी ही श्रीमद्भागवतमें है।

वास्तवमें देवताएं ३३ है, इन सब ३३ देवताओंका वर्णन न वेदमंत्रमें है, न उपनिषदोंमें है और ना ही श्रीमद्भागवतमें है। पांच, दस, पंद्रह इतने ही देवोंका वर्णन किया है और इस संक्षिप्त वर्णनसे हमने ३३ देव अंशरूपसे शरीरमें वसते हैं ऐसा तर्कसे जानना चाहिये। यह

जाननेके लिये श्रीमद्भागवतका वर्णन सहायता करता है इसमें संदेह नहीं है।

ऊपरके भागवतके वचनमें 'पाद' के स्थान पर 'हरि, विष्णु' रखा है। इस विषयमें पाठकोंमें संदेह उत्पन्न हो सकता है, पर इसके लिये वेदमें वचन है—

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः ॥ अथर्व ३।२७।५

'ध्रुवा दिशाका विष्णु अधिपति है।' यहां ध्रुवा दिशा पृथिवीकी दिशा है और उसका अधिपति विष्णु है। इसी वेद वचनको लेकर उक्त भागवतके श्लोकमें पृथिवी पांवके स्थानमें है और पांवका अर्थात् पृथ्वी स्थानका संबंध विष्णुसे बताया है। 'पद्भ्यां भूमिः' (ऋ. १०।९०); 'पद्भ्यां पृथिवी' (मुण्डक २।१।४); 'पृथिव्येव पादौ' (छां. उ. ५।१८।२) इस तरह विराट् पुरुषके पांवका संबंध पृथिवीके साथ बताया है। द्युलोक उसका सिर है, अन्तरिक्ष उदर है और पृथिवी पांव है। इतने वचनोंका विचार करके श्रीमद्भागवतकारने पांवोंका संबंध विष्णुसे बताया है। इतना विराट् पुरुषका वर्णन वेद, उपनिषद् और भागवतमें समान ही है।

नव नवति

वेदमें 'नवतीर्नव' ऐसे प्रयोग हैं। देखिये ऋग्वेदमें—

अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः
शम्बरस्य ॥ ऋ० ४।२६।३

अवाहन् नवतीर्नव। ऋ० ९।६१।१

इन्द्रो दधीचो अस्थिभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।
जघान नवतीर्नव ॥ अथर्व २०।४१।१

"मैंने शंबरके निन्यानवे नगर एक साथ तोड दिये। 'इन्द्रने दधीचीके अस्थियोंसे बने वज्रसे निन्यानवे वृत्रोंको अर्थात् वृत्रके नगरोंको तोड दिया। अथवा निन्यानवे वृत्रों का वध किया।" इस प्रकार 'निन्यानवे' इस संख्याका उल्लेख वेदोंमें कई बार आ गया है। वही संख्या श्रीमद्भागवतमें वैसीही आगयी है—

नवतिं नव चाध्वनः। श्री. भागवत ३।३०।२४

'निन्यानवे मार्गोंके' विभाग नरकमें भोगता है। कष्ट भोगता है। यहां केवल संख्या का ही साम्य है।

वृत्रासुरका वध

वृत्रासुरकी कथा वेदमें है। इस कथाके मंत्र इस तरह वेदमें हैं—

घनो वृत्राणामभवः। ऋ० १।४।८

घनं वृत्राणां जनयन्त देवाः ॥ ऋ० ३।४९।१

श्रेष्ठो घने वृत्राणाम्। ऋ० ६।२८।८

घनो वृत्राणां तविषो बभूथ। ऋ० ८।९६।१८

हन्ता वृत्राणामसि। ऋ० ९।८८।४

वृत्रस्य अभिनत् शिरः ॥ ऋ० १।५२।१०

अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद् वज्रं स्वपस्तमं स्वर्यं रणाय।
वृत्रस्य चिद् विदद् येन मर्म तुजन्नीशानस्तुजता कियेधाः ॥ ऋ० १।६१।६

इन्द्रो वृत्रस्य तविषीं निरहन्त्सहसा सहः।
महत्तदस्य पौंस्यं वृत्रं जघन्वान् असृजत्।
ऋ० १।८०।१०

इन्द्रो वृत्रस्य संजितो धनानाम्। ऋ० ५।४२।५

वि चिद् वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा।
शिरो बिभेद वृष्णिना ॥ ऋ० ८।६।६

अयमिन्द्रो मरुत्सखा वि वृत्रस्याभिनच्छिरः।
वज्रेण शतपर्वणा ॥ ऋ० ८।७६।२

नि षीं वृत्रस्य मर्मणि वज्रमिन्द्रो अपीपयत् ॥
ऋ० ८।१००।७

वृत्रस्य हनू रुज। ऋ० १०।१५२।३

ऐसे इन्द्रवृत्रके युद्धके सेकडों मंत्र हैं। इन मंत्रोंमें कहा है कि 'इन्द्रने वृत्रका वध किया। वृत्रके सब अनुयायियोंका नाश किया। वृत्रका सिर इन्द्रने काटा। त्वष्टा देवोंका शिल्पी था, उसने इन्द्रको सौ धारावाला वज्र बनाया, इस शतपर्ववाले वज्रसे वृत्रका सिर इन्द्रने काटा। वृत्रके सब मर्म काटे, वृत्रकी हनु काट दी। इस तरह वृत्रके टुकडे टुकडे करके उसका वध किया।' यह कथा वेदके मंत्रोंमें है जो ऊपरके मंत्रमें दीखती है। यही कथा ऐसी ही श्रीमद्भागवतमें विस्तारसे दी है देखिये—

महता रौद्रदंष्ट्रेण जृम्भमाणं मुहुर्मुहुः।
वित्रस्ता दुद्रुवुर्लोका वीक्ष्य सर्वे दिशोदश ॥ १७ ॥
येनावृता इमे लोकास्तमसा त्वाष्ट्रमूर्तिना।
स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः ॥ १८ ॥
अथो ईश जहि त्वाष्ट्रं ग्रसन्तं भुवनत्रयम्।
ग्रस्तानि येन नः कृष्ण तेजांस्यस्त्रायुधानि च ॥ ४४ ॥
मघवन् यात भद्रं वो दध्यञ्चं ऋषिसत्तमम्।
विद्यावततपःसारं गात्रं याचत मा चिरं ॥ ५१ ॥

स वा अधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम् ।
यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात् ॥ ५२ ॥
दध्यङ्ङाथर्वणस्त्वाष्ट्रे वर्माभेद्यं मदात्मकम् ।
विश्वरूपाय यत्प्रादात्त्वष्टा यत्त्वमधास्ततः ॥ ५३ ॥
युष्मभ्यं याचितोऽश्विभ्यां धर्मज्ञोऽङ्गानि दास्यति ।
ततस्तैरायुधश्रेष्ठो विश्वकर्मविनिर्मितः ॥ ५४ ॥
येन वृत्रशिरो हर्ता मत्तेज उपबृंहितः ॥ ५ ॥

श्री भागवत ६।९

स तु वृत्रस्य परिघं करं च करभोपमम् ।
चिच्छेद युगपद्देवो वज्रेण शतपर्वणा ॥ २५ ॥
छिन्नपक्षो यथा गोत्रः खाद्भ्रष्टो वज्रिणा हतः ॥२६॥

श्रीभागवत ६।१२

वृत्रे हते त्रयो लोका विना शक्रेण भूरिद ।
सपाला ह्यभवन् सद्यो विज्वरा निर्वृतेन्द्रियाः ॥२॥

श्री भागवत ६।१३

"त्वष्टाका पुत्र वृत्र था। इस वृत्रने सब लोक पराभूत किये। और सब लोकोंपर अन्धकार छा दिया। सब लोक भयभीत हुए और ईश्वरकी प्रार्थना करने लगे। 'हे ईश्वर! इस त्वष्टा पुत्र असुरका नाश कर, इसने सबके शस्त्र खाये हैं और सबको परास्त किया है।' ईश्वरने सब देवोंसे कहा कि 'हे देवो! तुम दधीची ऋषिके पास जाओ और उसकी हड्डियाँ मांगो। वह ऋषि बडा ज्ञानी है वह तुम्हें हड्डियां देगा। उन हड्डियोंसे विश्वकर्मा वज्र बना देगा और उस वज्रसे इन्द्र वृत्रका वध करेगा।' इस तरह वज्र सौ धारा-ओंसे युक्त विश्वकर्माने बनाया, और इस वज्रसे इन्द्रने उस वृत्रका नाश किया। उस वृत्रके हाथपांव तोडे गये और वह भूमिपर मर कर गिर गया। वृत्रका वध होनेके बाद तीनों लोक दुःख रहित हो गये।"

यह कथा जैसी वेद मंत्रोंमें है वैसी ही श्रीभागवतमें है। इस कथामें आये नामोंको वेदमंत्रोंमें अब देखिये—

दध्यङ्ङथर्वा ऋषि

यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत ।

ऋ० १।८०।१६

दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदी-मुवाच ॥ ऋ० १।११६।१२

इन्द्रो दधीचो अस्थिभिः वृत्राण्यप्रतिष्कुतः ।
जघान नवतीर्नव ॥ ऋ० १।८४।१३
आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम् ॥
स वां मधु प्रवोचदृतायन् त्वाष्ट्रं यद् दस्रावपि कक्ष्यं वाम् ॥ ऋ० १।११७।२२

इस तरह अथर्वपुत्र दधीचीका वर्णन वेद मंत्रोंमें है। अश्वका सिर उसको लगाया और उसने अश्विदेवोंको मधुविद्या कही। दधीचीने अपनी हड्डियां दीं, इन हड्डियोंका वज्र बनाया और उस वज्रके द्वारा इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया।' यह कथा आलंकारिक तो है। क्योंकि ऋषिको घोडेका सिर लगाना, फिर उसने मधुविद्याका उपदेश देना आदि बातें आलंकारिक होनेमें संदेह ही नहीं है। जिस युक्तिसे वेदमंत्रोंका अलंकार खुलेगा, उसी युक्तिसे इन रोचक कथा-ओंका भी अलंकार खुल जायगा। यही यहां बताना है।

शंबरासुर

शंबरासुर भी वृत्रका साथी था। इस विषयमें वेदके मंत्र देखिये—

अद्र्दर्मन्युना शंबराणि वि । ऋ० २।२४।२
दिवोदासं शंबरहत्ये आवतं । ऋ० १।११२।१४
अधूनोत् काष्ठा अव शंबरं भेत् । ऋ० १।५९।६
यः शंबरं यो अहन् पिप्रुमव्रतम् । ऋ० १।१०१।२
यः शंबरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् । ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥ ऋ० २।१२।११
अवाहन्निन्द्र शंबरम् । ऋ० ४।३०।१४
वृणक् पिप्रुं शम्बरं शुष्णमिन्द्रः । ऋ० ६।१८।८

ये मंत्र शंबरके हैं, पर इनमें पिप्रु, अहि, दानु, शुष्ण आदि वृत्रके साथियोंके नाम हैं। और यह शंबर पर्वतोंपर रहा था, ये शंबर अनेक थे, आदि वर्णन यहां स्पष्ट रीतिसे है। अब नमुचि देखिये।

नमुचि

निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम् ॥ ऋ० १।५३।७
यः पिप्रुं नमुचिं यो रुधिक्रां । ऋ० २।१४।५
अहञ्च वृत्रं नमुचिमुताहन् । ऋ० ७।१९।५

इस तरह नमुचिका वर्णन वेदमंत्रोंमें है। इस नमुचिको यहां (मायी) कपटी कहा है, इसके साथी दृभिका, वृत्र पिप्रु ये हैं। यह (मख-स्यु) यज्ञका नाश करता था, यह (दास) हीन था, नाश करने योग्य था। ऋषिको कपटजालसे मुक्त करनेके लिये इन्द्रने नमुचिका वध किया। यह सब ऐसा ही वर्णन श्रीमद्भागवतमें है। ये ही शब्द ऐसे ही वहां है।

इतिहास और पुराणोंमें वेदमंत्रोंकी संक्षिप्त वर्णनमय आलंकारिक कथाएं विस्तारसे और मनोरंजक ढंगसे लिखी हैं। इनको यह रूप इसलिये दिया गया कि इससे लोगोंका मनोरंजन हो और वेदमंत्रोंका आशय जनताको सुबोध रीतिसे समझे। इसलिये इतिहास और पुराण रचे है।

यह देखकर आज हमें यह उचित है कि हम यह सब देखें। एक एक विद्वान एक एक पुराण लेकर एक वर्षतक उसका अध्ययन करेगा, तो उसके सामने कथाएं आजांयगी और उनका वैदिक रूप भी उसके सन्मुख आ जायगा। दोनोंकी तुलनासे वेदमें कौनसी कथा कैसी है और पुराणोंमें वह कैसी बनायी गयी। यह रूपान्तर अच्छा हुआ या बुरा हुआ है। बुरा हुआ होगा तो उसमें कहांतक बुराई है यह सब देखना चाहिये। और निष्पक्ष होकर निर्णय करना चाहिये कि इस पुराण कथा संग्रहमें लेने योग्य अंश कितना है और छोडने योग्य कितना है।

वेदमंत्रोंका आशय समझानेके लिये इतिहास और पुराण लिखे हैं। इसलिये वेदमंत्रोंके साथ इतिहास और पुराणोंकी तुलना करनी चाहिये।

ऐसी तुलना करनेसे कमसे कम यह ज्ञान तो अवश्य होगा कि उस पुराण लेखकके समय इन वेदमंत्रोंका आशय किस तरह समझा जाता था। यदि इस तुलनासे वेदमंत्रोंका अर्थ करनेमें हमें सहायता हुई तो वह ले ली जाय। और न हुई तो वह भी इस कारण सहायता नहीं होती है। ऐसा सब विद्वानोंके सामने प्रकट हो जायगा।

संपूर्ण इतिहासों और पुराणोंका इस तरह तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिये। यह एक वेदाध्ययनका पद्धति है अतः इसका उपयोग करना चाहिये।

इस लेखमें हमने श्रीमद्भागवतके साथ तुलना की है। यह भी संपूर्णतया नहीं है। दिग्दर्शन मात्र है। संपूर्णतया करनेसे इसके बीस गुणा लेख बढेगा। इसलिये दिग्दर्शन मात्र यहां किया है।

वेदमंत्रोंके सैंकडों टुकडे एक साथ जोडकर उस शृंखला की तुलना पौराणिक कथाके साथ करनी चाहिये। यह कार्य बडे परिश्रमकी तथा बडे धनराशीकी अपेक्षा करता है। आशा है वेदप्रेमी एक वार ये परिश्रम लेकर वेदके पौराणिक रूपान्तरका स्वरूप यथार्थ रूपसे जनताके सामने रखेंगे।

प्रश्न

१ पुराणोंकी रचना किस हेतुसे की थी ?

२ 'इतिहासों और पुराणों' से वेदका उपबृंहण करना चाहिये इसका भाव क्या है ?

३ अजन्माके जन्मोंका वर्णन सत्य है वा आलंकारिक ?

४ वेदशास्त्रवेत्ताकी नियुक्ति राज्यशासनके किन अधिकारोंके स्थानों-पर की जाती थी ? आज वैसा क्यों नहीं होता ?

५ वेदार्थ जाननेवालेकी योग्यता कितनी है ?

६ ईश्वरकी व्यापकता बतानेवाले वचन वेद और भागवतसे बताइये ।

७ विष्णुके वर्णनके वचन वेद और भागवतसे अर्थ सहित बताइये ।

८ दो सुपर्ण कहां रहते, वह वृक्ष कहां है ? इनका वर्णन कीजिये ।

९ प्रभुके भयसे कौन कार्य करते हैं ?

१० वृत्स और दूधके अलंकारसे कौनसा तत्त्वज्ञान दिया है सो बताइये ।

११ कालचक्रका वर्णन वेदमें और भागवतमें कैसा किया है ?

१२ शरीरको रथ मानकर वर्णन कीजिये, इससे कौनसा बोध मिलता है वह बताइये ।

१३ सहस्रों मस्तकोंवाला पुरुष कौन है उसके स्वरूपका वर्णन कीजिये ।

१४ अशरीरी परमेश्वरका शरीर कौनसा है, उसका वर्णन कीजिये और उसके शरीरके किस भागमें कौनसी देवताएं रहती हैं यह बताइये ।

१५ मानव शरीरमें कौनसी देवताएं कहां रहती हैं वह बताइये । किस तरह यह शरीर देवतामय है वह समझाइये ।

१६ दधीची ऋषिके कार्यका वर्णन कीजिये ।

१७ वृत्र, नमुची, शंबर आदि राक्षसोंके नाशका कार्य किसने किया था ?

पतिप्रेम

३०० यः उषसः अर्यपत्नीः चकार।

'जिसने उषाओंको आर्यवीरोंकी पत्नी बनाया।' उषा दिव्य कन्या थी, उसका विवाह आर्यवीरसे हुआ। इस तरह वीरा कन्या वीर आर्यके साथ विवाहित हुई। इसी तरह सुयोग्य कन्याका विवाह सुयोग्य पतिके साथ होना योग्य है।

१९ विभाती सुप्रतीका सौमनसाय स्मयेते।

'तेजस्विनी सुन्दर स्त्री पतिके मनकी प्रसन्नताके लिये हंसती है।' इस तरह स्त्री पतिके सामने हास्यमुख करके सब व्यवहार करे। कभी क्रोधित या दुर्मुख होकर पतिके सामने न आवे।

पुत्रवाली स्त्री

४० रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्या आगात्।

'जिसका बालक तेजस्वी है, ऐसी स्वयं तेजस्विनी गौरवर्ण स्त्री आरही है।' यहां बालक तेजस्वी होना चाहिये ऐसा कहा है। स्त्री अपने मनमें यही विचार धारण करे कि मेरा पुत्र तेजस्वी तथा वीर्यवान् बने।

१३३ मर्त्येषु श्रवस्यु असे धेहि।

'मनुष्योंमें यशस्वी पुत्र हमें दो।' सब मानवोंमें जिसका यश फैलता है, सब मानव जिसके यशका वर्णन करते हैं ऐसा पुत्र हमें दो। मातापिता ऐसी इच्छा मनमें सदा रखें।

२५५ मातुः उषसः सप्त विप्रा जायेमहि।

'उषा माताके सात पुत्र होते हैं।' सात पुत्र हों और कुछ कन्या भी हों। ऋग्वेदमें अन्यत्र '**अष्टौ पुत्रासः अदितेः**' अदितिके आठ पुत्र कहे हैं। और '**दश अस्यां पुत्रान् आधेहि**' इस स्त्रीमें दस पुत्र उत्पन्न कर ऐसा कहा है। यहां सात पुत्रोंका वर्णन है। संतति संपत्ति अच्छी होनी चाहिये।

पति और श्वशुरकी सेवा

उषा श्वशुरकी भी सेवा करती है और पतिकी भी। इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखने योग्य है—

३७९ सा वसु दधती श्वशुराय वयः उषो यदि वष्ट्यन्ति गृहात्। अस्तं ननक्षे यस्मिन् चाकन् दिवा नक्तं श्रथिता वैतसेन॥ ऋ० १०।९५।४

"(सा श्वशुराय वसु वयः दधती) वह स्त्री अपने श्वशुरके लिये दीर्घायुतक बसानेवाला अन्न देती है। (यदि वष्टि) जब चाहता है तब (अन्ति गृहात्) अन्दरके कमरेसे आकर उसकी सेवा करती है। (अस्तं ननक्षे) अपने पतिके घर जाती है और (दिवा नक्तं) दिनरात (वैतसेन श्रथिता) नम्रभावसे रहकर पतिको स्नेहभावसे परम संतोष देती है।"

श्वशुरके लिये उत्तम अन्न देती है। 'वसु' का अर्थ जिससे सुखपूर्वक निवास हो सकता है और 'वयः' का अर्थ आयुको बढानेवाला अन्न। ऐसा अन्न श्वशुरको देती है। उसको वृद्ध आयुमें जैसा चाहिये वैसा अन्न देती है। इस तरह श्वशुरकी सेवा करती है और पतिके पास जानेके लिये अपने कमरेमें जाती है और वेतसके समान नम्रभाव धारण करके पतिके सामने अपना स्नेह भाव प्रकट करती है। वेतस् मस्त नहीं रहता। नरम, कोमल रहता है। दूसरेके साथ लपेटा जा सकता है। वैसी वृत्ती आलिंगन देनेकी वृत्ती है। यह प्रेम और स्नेहकी वृत्ति है। इससे पतिको परम संतोष होता है। इस तरह श्वशुर और पतिको स्त्री परम संतोष देवे।

घर

उषा उत्तम घर देती है इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्र देखने योग्य है—

१८ प्र नो यच्छादवृकं पृथु छर्दिः प्र देवि गोमतीरिषः॥ ऋ० १।४८।१५

'उषा देवी हमें अहिंसक विशाल घर देवे और गौओंके साथ उत्तम अन्न देवे।' घर विशाल हो और (अवृकं) हिंसक जानवरों और हिंसक मानवोंका उपद्रव वहां न हो। इसी तरह उसमें गौवें हों और उत्तम पौष्टिक अन्न हो। ऐसा बडा घर हमें रहनेके लिये मिले।

यहां झोंपडी रहनेके लिये मांगी नहीं है, पर विशाल और पक्का सुदृढ घर मांगा है, जो सुन्दर और सुरक्षित हो। जहां घातपात होनेकी संभावना न हो। आसपासकी वसती अच्छी हो। तथा—

५९ अर्या मानुषाय क्षयाय चिकित्सन्ती कृष्णात् उदस्थात्। ऋ० १।१२३।१

"यह श्रेष्ठ उषा (मानुषाय क्षयाय चिकित्सन्ती) मानवोंके सुखपूर्वक निवासके लिये ज्ञानपूर्वक यत्न करती है और

इसीलिये रात्रीके अन्धकारसे ऊपर उठकर आती है। " मानवी (क्षयगृह) घरोंको सुख पहुंचानेकी इच्छा करती हैं।

६१ गृहं गृहं अहना यात्यच्छा
दिवे दिवे अधि नामा दधाना। ऋ० १।१२३।४

' प्रतिदिन यश प्राप्त करती हुई उषा घर घर पहुंचती है। ' अर्थात् प्रत्येक घरका निरीक्षण करती है। अपने अनुयायियोंके घरोंकी परिस्थिति कैसी है यह देखना स्त्रीका मुख्य कार्य है।

रथ, घोडे और गौवें

उषाके पास रथ और घोडे बहुत होते हैं, उन रथोंमें वह बैठती है और अच्छे घोडोंको जोत कर वह रथोंको चलाती है। इस विषयमें ये मंत्र देखने योग्य हैं।

८६ उषो देव्यमर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती । आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये ॥ ऋ० ३।६१।२

" हे उषा देवी! (चन्द्र-रथा सूनृता ईरयन्ती) चन्द्रके समान सुन्दर रथमें बैठनेवाली और मधुर भाषण करनेवाली तू (विभाहि) प्रकाशती रह। (ये पृथु पाजसः सुयमासः अश्वाः) जो विशेष बलवान और स्वाधीन रहनेवाले घोडे हैं वे (हिरण्य-वर्णा त्वा) सुवर्णके समान रंगवाली तुझको (आवहन्तु) ले आवे। "

यहां उषाका रथ ' चन्द्ररथः ' चन्द्रमाके समान तेजस्वी कहा है। यह रथ यह चादीका बना होगा जो चन्द्रमाके समान दीखता है।

उषाके घोडे (सु-यमासः) उत्तम शिक्षित हैं जो इशारेसे चलते और स्वाधीन रहते हैं। साथ साथ वे (पृथु-पाजसः) विशेष बलवान भी हैं। ऐसे रथमें यह बैठती है।

१३ सा हि बृहता रथेन।

' वह बडे रथसे आवे। ' यहा उषाका रथ बडा है ऐसा कहा है।

२१ हे उषः! त्वं सुपेशसं सुखं रथं अध्यस्थाः।

' हे उषा! तू अत्यन्त सुन्दर और सुखदायी रथमें बैठती है। ' रथ बडा है, सुन्दर है और बैठनेवालोंको सुख देनेवाला भी है।

५९ दक्षिणायाः पृथुः रथः अयोजि।

' इस दक्ष उषाका बडा रथ घोडे जोतकर तैयार हुआ है। '

१११ बृहद्रथा बृहती उषा।

' बडे रथमें बैठनेवाली यह उषा बडी है। ' यहां भी उषाका रथ बडा है ऐसा कहा है।

९५ वः सनयः नवो वा यामः अद्य कुवित् बभूयात्।

' तुम्हारा यह रथ पुराना ही है, अथवा आज नया लाया है। ' जो आज बहुत घूम रहा है।

३८ अरुणान् अश्वान् युंक्ष्व।

' हे उषा! तू आज लाल घोडोंको जोत ' यहां उषाके घोडोंका रंग लाल और पीला मिला हुआ अर्थात् अरुण रंग है ऐसा कहा है। '

५२ अरुणेभिः अश्वैः सयुजा रथेन आयाति।

' लाल रंगके घोडे जिसके साथ जोते हैं ऐसे उत्तम रथसे उषा आती है। '

१३३ चन्द्ररथाः उषसः अरुणयुग्भिः अश्वैः विययुः।

' सुन्दर चमकदार रथमें बैठनेवाली उषाएँ लाल रंगके घोडोंको जोतकर चली गयी। '

१४३ शुभ्रा विश्वपिशा रथेन याति।

' यह गौरवर्ण उषा उत्तम सुन्दर रथसे आती है।

६ रथानां जीरा उच्छात्।

' रथोंको चलानेवाली उषा प्रकाशने लगी है। ' यह उषा रथको स्वयं चलाती है।

२० अरुणप्सवः त्वा उपवहन्तु।

' लाल रंगके घोडे तुझे ले आवे। '

१० इयं सुभगा उषा मानुषान् शतं रथेभिः अभि वियाति।

' यह भाग्यवाली सुन्दरी उषा मनुष्योंके पास सेंकडों रथोंके साथ आती है। ' अर्थात् उषाके रथके साथ अन्य अनुयायियोंके भी अनेक रथ रहते है।

१० एषा सूर्यस्य उदयनात् अधि अयुक्त।

' यह उषा सूर्यके उदयके पूर्व ही अपना रथ जोडती है और घूमने लगती है।

१५९ बृहता ज्योतिष्मता रथेन।

' उषा बडे तेजस्वी रथसे आती है।

१६१ स्वधया युज्यमानं रथं आस्थात् यं सयुजः अश्वासः आवहन्ति।

' अन्नसे भरपूर भरे हुए रथपर उषा बैठी है और उसके रथके साथ उत्तम शिक्षित घोडे जोते हैं जो उसके रथको खींचते है ।

१६१ उषा देवी सुवितायं बोधयन्ती सयुजा रथेन ईयते ।

इस तरह उषाके रथका वर्णन है । वह रथ बडा है, चन्द्रमाके समान वह तेजस्वी है, सूर्योदयसे पूर्व ही वह रथ जोता जाता है, उसके घोडे उत्तम शिक्षित हैं, वे इशारेसे चलते हैं, वे लाल रंगके है । इस तरह रथका वर्णन है । वैदिक समयकी स्त्रिया इस तरह सुन्दर रथमें बैठकर घूमनेके लिये जाती थीं । यह स्त्रीका आदर्श है । स्त्रियां स्वयं रथको चलावे । सवेरे ही उठकर रथमे बैठकर भ्रमण करे । यह स्त्रियोंके स्वास्थ्यके लिये भी अत्यंत आवश्यक है ।

५६ गोमतीः अश्वदाः ताः सर्ववीराः उषासः ।

" उषाएं गौवोंसे युक्त, घोडोंको दानमे देनेवाली, और सब प्रकारके वीरोंसे युक्त होती हैं । " गौवें और घोडे घरमें रहें और घरके सुपुत्र वीर बनें । घरके बालकोंको ऐसी सुशिक्षा मिलनी चाहिये कि जिससे वे उत्तम वीर बनें और अपना तथा अपने राष्ट्रका संरक्षण कर सकें ।

७० गोमतीः अश्वावतीः भद्रा उषासः ।

' गौओंसे युक्त और घोडोंसे युक्त ये उषाएं कल्याण करनेवाली हैं । ' लोगोंका कल्याण करती हैं । घरकी स्त्रियां घरकी गौओं और घरके घोडोंका पालन अच्छी तरह करें ।

९६ उषसः ! ऋतयुग्भिः अश्वैः भुवनानि । परि प्रयाथ ।

' हे उषाओ ! तुम सरलतासे जोते जानेवाले घोडोंको अपने रथको जोतकर सब भुवनोंमे जाती है । ' इस मंत्रमें वर्णन किया है कि उषाके रथके घोडे अत्यंत उत्तम शिक्षित रहते हैं, जो सहजहीसे जोते जाते हैं । ऐसे शिक्षित घोडे अपने पास होने चाहिये यह इसका आशय है ।

१०४ गवां माता उषा ।

१०५ गवां माता असि । वस्व ईशिषे ।

' उषा गौओंका पालन करती है । वह धनकी स्वामिनी है।'

१४३ उषसं वहन्तः अरुषासः चित्रा अश्वाः ।

' उषाके रथको जोते घोडे लाल रगके हैं और वे विलक्षण चित्र विचित्र दीखते हैं । '

इस तरह उषाके रथका और घोडोंका वर्णन वेदके मंत्रोंमें है । यह देखनेसे पता चलता है कि घोडे कैसे होने चाहिये, रथ कैसे सुन्दर होने चाहिये और घरमे गौवें भी कैसी उत्तम दुधारू होनी चाहिये ।

अन्न

उषा अपने पास अन्न और धन रखती है और यह इनका दान भी करती है । इस विषयके मंत्र अब देखिये—

२६ सुकृते सुदानवे विश्वा इषः वहन्तीः ।

' उत्तम कर्म करनेवालों और उत्तम दान देनेवालोंके लिये अनेक प्रकारके अन्न यह उषा लाकर देती है । ' तथा—

६० बृहती सनुत्री वाजं जयन्ती युवती आगन् ।

' बडी दान देनेवाली अन्नको जीतकर लाती है ऐसी तरुणी स्त्री आगयी है । ' तरुणी स्त्री ऐसी हो कि वह अपना धन संरक्षण करनेमें समर्थ हो, जो विजय प्राप्त कर सकती है । '

११७ हे दिवः दुहितः । नः गोमतीः इषः आवह ।

' हे स्वर्गकन्ये ! हमें गौके दूधके साथ अन्न ला दो । ' हमें ऐसे अन्न चाहिये कि जिनके साथ गायका दूध, दही, मक्खन, घी आदि पर्याप्त प्रमाणमें मिल सकता हो । अन्नके साथ पर्याप्त गोरसका होना अत्यंत आवश्यक है ।

१३४ उषसः दाशुषे मर्त्याय श्रवः वाजं इषं ऊर्जं वहन्तीः वीरवत् रत्नं अवः नियात् ।

' उषाएं दाता मनुष्यको यश, अन्न, बल, और सामर्थ्य लाती हैं और वीर युक्त रत्न और संरक्षण देती हैं । '

उषा उत्तम अन्न तैयार करती है, उससे बल, सामर्थ्य वीर्य आयु बढती है । इस अन्नके साथ गोरसके पदार्थ रहते है । ऐसा अन्न मनुष्योंको मिलना चाहिये ।

धन

स्त्री अपने पास अपना निज धन रख सकती है वा नहीं । इस विषयमें उषाके मंत्रोंमें स्पष्ट निर्देश ऐसे हैं कि स्त्रीका निजधन होता है । इस विषयमें ये मत्र देखिये—

११ मघोनी उषा ।

४५ एषा दिवः दुहिता शुक्रवासाः युवतिः विश्वस्य पार्थिवस्य वस्वः ईशाना व्युच्छन्ती प्रत्यदर्शि ।

' यह उषा (मघोनी) धनवाली है । यह स्वर्गकन्या शुभ्र वस्त्र पहनकर सब पार्थिव धनकी स्वामिनी स्त्री प्रकाशती है ऐसा दीख रहा है । '

५३ वार्याणि आवहन्ती चेकिताना
चित्रं केतुं कृणुते ।

'सब उत्तम धनोंको धारण करनेवाली यह स्त्री ज्ञान फैलाती हुई अपने विलक्षण प्रकाशध्वजको फैलाती है।'

६२ वसूनां अग्रं अग्रं भजते ।

'धनोंमें श्रेष्ठ धनका ही यह सेवन करती है।'

१२३ मघोनी वस्वी दक्षिणा अभूत् ।

'धनवाली उषा धनको पास रखती है और दक्षतासे रहती है।'

१४२ वाजिनीवती चित्रामघा वसूनां राय ईशे ।

'धनोंवाली विलक्षण बडी संपत्ति अपने पास रखनेवाली उषा सब प्रकारके धन ऐश्वर्योंपर स्वामित्व करती है।'

२३८ उषसः रेवत् ऊषुः

'उषायें धनके साथ प्रकाशती हैं।'

इस तरह उषा स्त्री होनेपर वह धन ऐश्वर्य अपने पास रखती है। स्त्रीका पूर्ण स्वामित्व धनपर होता है यह इन मंत्रोंसे स्पष्ट हुआ। पूर्ण स्वामित्व धनपर रहनेसे ही वह उषा स्त्री धनोंका दान अपनी इच्छासे करती है। इस विषयके मंत्र अब देखिये–

स्त्री धनका दान करती है

उषा धनका दान करती है इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये-

११ अस्मभ्यं भूरि सौभगं आवहन्ती ।

'हमें देनेके लिये बहुत उत्तम धन उषा लाती है।'

५८ चित्रं भद्रं अग्नः उषसः वहन्ति ।

'विलक्षण कल्याण करनेवाला धन लाकर हमें देती हैं।'

१३० अवाता उक्षभिः वरं वहसि ।

'अप्रतिहत गतिवाली बैलोंपर लदकर श्रेष्ठधन लाती है।'

१६६ सुकृते वसूनि विदधाति ।

'उत्तम कर्म करनेवालेके लिये उषा अनेक प्रकारके धन देती है।'

१७४ पुरु स्पार्हं वहसि, दाशुषे मयः रत्नं ।

'बहुत स्पृहणीय धन धारण करती है और वह आनन्द-दायक रत्न दाताको देती है।'

इस रीतिसे अनेक मंत्रोंमें उषाके दान करनेके विषयमें वर्णन है। उषाके पास धन है और वह धन सत्पात्रको दानमें देती है। इसीलिये मांगनेवाले लोग उषाके पास धन मांगते हैं। ऐसे मंत्र भी अनेक हैं, उनमें कुछ मंत्र देखिये —

३ त्वं वाजेभिः आगहि, अस्मे रयिं निधारय ।

'तू धनोंके साथ आ और हमें धन दो।'

४ बृहता द्युम्नेन सह ।

'बडे तेजस्वी धनके साथ आजाओ।'

५ मघोनां राधः चोद ।

'धनवानोंके पास जैसा धन है वैसा धन हमें दो।'

१५ हे उषः! गोमत् अश्ववत् उक्थ्यं सुवीर्यं वाज अस्मासु धाः ।

'हे उषा! तू गौओं और घोडोंसे युक्त प्रशंसनीय और वीर्य बढानेवाला धन हमें दे।' हमें धन ऐसा चाहिये कि जिसके साथ हमारे घरमें बहुत गौवें और घोडे हों, और जिस धनसे हमारा वीर्य बल और सामर्थ्य बडे और बहुत प्रशंसा हो।

१६ सा नः विश्ववारं सुपेशसं
सुम्नयं रयिं ददातु ।

'वह उषा हमें सबको स्वीकरणीय, सुन्दर, सुखदायी धन देवे।'

१७ सा शुक्रेण शोचिषा राधसा

'वह उषा तेजस्वी वीर्य और बलके साथ हमारे पास आवे।'

१९ हे उषः! बृहता विश्वपेशसा राया,
विश्वतुरा द्युम्नेन, इळाभिः वाजैः संमिमिक्ष ।

'हे उषा! तू बडे सबसे अधिक सुन्दर धनसे, शत्रुनाशक तेजस्वी वैभवसे तथा बलवर्धक अन्नोंसे हमें युक्त कर।'

२० भद्रेभिः आगहि

'कल्याण करनेवाले धनोंके साथ आओ।'

३० प्रजावतः नृवतः अश्वबुध्यान्
गो अग्रान् वाजान् उपमासि ।

'संतानों और वीर पुरुषोंके साथ रहनेवाले, घोडों तथा गायोंके साथ रहनेवाले अन्नों, धनों, बलों और सामर्थ्योंको हमे दे दो।'

३१ यशसं सुवीरं दासप्रवर्गं
अश्वबुध्यं रयिं अश्याम् ।

'यशस्वी, वीरों, सेवकों और घोडोंके साथ रहनेवाला धन हमें चाहिये।' ऐसा धन हमें दे दो।

३६ अस्मभ्यं चित्रं आभर
येन तोकं तनयं च धामहे ।

'हमें विलक्षण श्रेष्ठ धन भरपूर भर दे, जिससे हम पुत्र-पौत्रोंका भरण पोषण उत्तम प्रकार कर सकेंगे।' अर्थात् हमें पुत्र-पौत्र हों, उनका पोषण उत्तम रीतिसे होता रहे और हम सदा धनधान्य ऐश्वर्यसे समृद्ध हों।

३८ नः विश्वा सौभगानि आवह ।

'हमें सब प्रकारके धन और ऐश्वर्ययुक्त भाग्य दे।'

६४ विभातीः उषसः तमसा अपगूळ्हा
स्पार्हा वसूनि आविः कृण्वन्ति ।

'तेजस्विनी उषाएं अन्धकारसे छिपे स्पृहणीय धनोंको प्रकाशित करती हैं।'

८४ युष्माकेन अवसा शतिनं सहस्रिणं
वाजं सनेम ।

'उषाओंकी कृपासे सैंकडों और सहस्रों प्रकारके धन हम प्राप्त करेंगे।'

१०१ विभातीः देवीः अस्मासु
प्रजावन्तं रयिं यच्छत ।

'प्रकाशनेवाली दिव्य उषायें हमारे लिये सन्तानयुक्त धन देवें।'

१०१ स्योनात् वः प्रतिबुध्यमाना
सुवीर्यस्य पतयः स्याम ।

'उषाओंके द्वारा हम सुखसे जाग्रत हो जानेपर उत्तम वीर्ययुक्त धनके स्वामी बनें।'

११० हे उषः ! नः महे राये बोधय ।

'हे उषा ! हमें बडा धन प्राप्त करनेके लिये जाग्रत कर।'

११५ सूरिषु वीरवत् यशः आधाः
अन्हयाः राधांसि नः अरासत ।

'ज्ञानियोंको वीरयुक्त यश, संतानयुक्त धन दे और क्षीण न होनेवाले ऐश्वर्य दे।'

११६ सुम्नं बृहत् द्युम्नं यशः आवह
अश्व्या गव्या राधांसि न भजन्ते ।

'बडा तेजस्वी धनयुक्त यश हमें दो, और घोडों और गौवोंसे युक्त धन भी दो।'

१३० सा वरं आवह ।

'वह तू श्रेष्ठ धन हमें ले आ।'

१३१ दाशुषे मर्त्याय भूरि वामं वहासि ।

१३५ विधते दाशुषे वीराय रत्नं निवहथ ।

१३७ सुवीरं रयिं रिरीहि, उरुगायं श्रवः धेहि ।

'दाता मानवके लिये बहुत धन दो, रत्न दो और उत्तम वीरोंके साथ रहनेवाला धन और अत्यंत प्रशंसा होने योग्य यश दे दो।'

१३९ चित्रं यशसं रयिं अस्मे धेहि ।

'विलक्षण यशस्वी धन हमें दे दो।'

१४५ अस्मे गोमत् अश्वावत् वीरवत् रत्नं
पुरुभोजः धेहि ।

'हमें गौओं, घोडों और वीरोंके साथ रहनेवाला रत्न दो और बहुत अन्न भी दो।

१५१ दीर्घश्रुतं रयिं अस्मे दधाना ।

'बहुतों द्वारा प्रशंसित धन हमें उषा देती है।

१५६ वसूनि आभर ।

'धनोंको भरपूर भर दो।'

१५८ सा अस्मासु बृहन्तं ऋष्वं रयिं धाः ।

'वह उषा हमारे लिये बडा धन देवे।'

१६८ देवं देवं राधसे चोदयन्ती ।

प्रत्येक कर्मकर्ताको ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिये प्रेरणा करती है।

ये ऐसे अनेक मन्त्र हैं। इनमेंसे कुछ मंत्र यहा नमूनेके लिये दिये हैं। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि उषा धन देती है और धन प्राप्त करनेके लिये प्रेरणा भी करती है। धनकी मांग उसके ही पास की जाती है कि जिसके अधिकारमे धन होता है। जिसके पास अपना धन न हो वह धन दूसरोंको किस तरह दे सकती है ?

११९ हे उषः ! एतावत् वा भूयः वा दातुं अर्हसि ।

'उषा इतना अथवा इससे अधिक दान करनेके लिये समर्थ है।' इसका कारण यही है कि जो धन उषाके पास है वह उसका अपना निज धन है। उसका इच्छानुसार दान करनेके लिये किसी दूसरेसे पूछनेकी अथवा दूसरेसे आज्ञा लेनेकी आवश्यकता नहीं है।

इससे सिद्ध होता है कि उषादेवीके पास धन रहता है, जो वह दूसरोंको देती है। दान करनेका पूर्ण अधिकार उसका अपने धनपर रहता है।

' यद्देवा अकुर्वन्, तत् करवाणि ' (श० प० ब्रा०) जो देव करते हैं वैसा मैं करूंगा। यह मानवोंके व्यवहारकी प्रणाली है। जो देव करते हैं वह मनुष्योंको करना योग्य है। इस नियमानुसार उषा अपना धन रखती है, योग्य सत्पात्रमें दान देती है, वैसा ही मानवी स्त्रियां अपने पास धन रखे और सत्पात्रमें उसका दान करें।

उषाके लिये नमन

इस उषाको पूर्वोक्त कारणसे सब लोग नमन करते है, देखिये।

११ विश्वं जगत् अस्याः चक्षसे ननाम।

' सब जगत इसको देखते ही नमस्कार करता है। ' इतना इसका महत्त्व लोग मानते हैं। यह उठकर सबको जगाती है, कर्म करनेके लिये प्रेरित करती है, धन देती है, छिपा धन प्रकट करती है, ऐसे इसके अनंत उपकार हैं। इसलिये कृतज्ञ होकर सब लोग इसको नमन करते हैं।

उषाका ध्वज

उषाका अपना ध्वज है। वह लाल रंगका ध्वज है। देखिये—

२४ उषसः केतुं अक्रत।

' उषाएं अपने ध्वजको फहराती है। '

१४७ पुरस्तात् उषसः केतुः अभूत्।

३१६ उषसः पुरस्तात् जायमानः केतुः।

' उषाका ध्वज पूर्व दिशामें दीख रहा है। पहिलेसे दूरसे उषाका ध्वज ऊपर फहर रहा है। ' उषा अपने ध्वजको अपने रथपर चढाती है, जिसको देखनेसे उषाके आनेका ज्ञान लोगोंको होता है।

इस रीतिसे उषाके ध्वजका वर्णन मंत्रोंमें है।

न्यायालय

७८ अभ्राता इव प्रतीची पुंसः एति
गर्तारुक् इव सनये धनानां।

' जिसका (अ-भ्राता) भाई नहीं है ऐसी स्त्री, (धनानां सनये) धनोंके अपने विभागको प्राप्त करनेके लिये (गर्त-आरुक्) न्यायालयकी सीढी चढती है, उस तरह आश्रय रहित स्त्री पंचोंके पाससे अपने विभागका निर्णय करावे। यहां उषा भ्रातृरहित स्त्री न्यायालयमें अपने धनका विभाग प्राप्त करनेके लिये आती है, ऐसा आलंकारिक वर्णन है। यह वर्णन इसलिये यहां अलंकार रखकर किया है कि असहाय स्त्रीको भी पंचोंद्वारा योग्य न्याय मिलना चाहिये, यह सब लोकोंको विदित हो जाय। असहाय स्त्रीको भी आर्य जातीमें कष्ट नहीं पहुंचने चाहिये। उसको धनका योग्य विभाग मिलना चाहिये। और उसकी आजीविका चलानेका प्रबंध राज्यप्रबंध द्वारा होना चाहिये, पिता, माता, पति, भाई ये क्रमसे स्त्रीके सहायक हैं, भाईके पश्चात् दूरके संबंधी। दूरके संबंधी भी न रहे तो ' ग्रामसभा ' के सदस्य उसके सहायक हों। यह भाव यहां है।

उषाके प्रायः सब वर्णन आलंकारिक है। उषाकी बहिन रात्री है, भाई दिन है। दिन न हों तो उषा भ्राताके विना हो जाती है। द्यु और भूमि उषाके पिता और माता हैं। यह भूमंडल उषाका घर है। सूर्य उषाका पति है। और जार भी है। जारका मूल अर्थ ' वयोहानि करनेवाला ' है। सूर्य आनेसे उषाकी मृत्यु ही होती है अर्थात् पूर्ण आयुकी हानि होती है। इसपर ऐसा अलंकार रचा गया है कि जारके साथ संबंध हो जानेसे स्त्रीका सर्वस्व नाश होता है, उसका पता लोगोंको लगे। वह भयानक प्रसंग अब देखिये-

जारसे संबंध

स्त्री अपने पतिसे संबंध अवश्य रखे, पर जारके साथ कभी संबंध न रखे। उषा द्युलोककी पुत्री, भू माता इसकी माता। ऐसे श्रेष्ठ कुलमें यह जन्मी इसलिये यह कुलीन है, विद्यावती है, धनवती है, उत्तम तरुणी है। पर इतना होनेपर भी इसकी आंख जारपर पडी, और सूर्य भी इसके पीछे पीछे घूमने लगा। इस तरह होते होते इसका संबंध इस जारसे हुआ।

३४ योषा जारस्य चक्षसा विभाति।

" यह स्त्री जारके प्रकाशसे प्रकाशने लगी है। ' जारने दिये आभूषणों और सुंदर वस्त्रोंसे अपना देह यह स्त्री सजाने लगी।

१४८ यतः जारः इव पर्याचरन्ती
पुनः यती इव न।

' यह उषा जारकी सेवा करने लगी। यती जैसा रहनेका व्रत इसने छोड दिया ' और यह जारिणी बनी। जारने दिये कपडे पहनने लगी, जारने दिये आभूषण धारण करने लगी। जारके पीछे पीछे जाने लगी। संयमसे रहनेका यतिव्रत इसने

छोड दिया और जारके साथ नाचने लगी और उषा और सूर्यका संबंध क्षणक्षणमें बढने लगा।

२०५ शुक्रः उषः जारः न।

' तेजस्वी बलवान यह सूर्य उषाको जारके समान ही है।' यह उषा अब इस सूर्यरूपी जारके घरके पास जाकर रहने लगी। उसके साथ घूमने लगी। उस जारपर अपना मन रखने लगी।

१०६ उषः न जारः

२११ मर्यः योषां न सूर्यः रोचमानां
उषसं देवीं पश्चात् अभ्येति।

' जिस तरह पुरुष स्त्रीके पीछे जाता है, उस तरह यह सूर्य तेजस्वी सुन्दरी उषादेवीके पीछे पीछे जाने लगा।' इस तरह उषाका संबंध इस जारके साथ बढने लगा।

२१६ जारः ससतीं पुरंधिं आ प्रबोधय।

' जार जिस तरह सोयी स्त्रीको जगाता है।' उस तरह यह सूर्य उषाको सबेरे ही जगाने लगा और उषा भी उसका जगानेका संकेत सुनकर जागने लगी और उसके साथ घूमने लगी।

इस तरह यह स्वर्गीय कन्या जारिणी बनने लगी। तो ऐसी बडे कुलमें उत्पन्न हुई सुन्दर तरुणीको भी वैदिक राज्यमें क्षमा नहीं हो सकती। बड घरानेकी है, धनवाली है, सुन्दरी है, कर्ममें कुशल है, इसकी प्रशंसा करनेवाले बहुत हैं तथापि वैदिकशासनमें ऐसे अपराधकी क्षमा नहीं हो सकती। इस जारिणीको भी बडा कठोर दण्ड भोगना पडा--

२२९ उषसः अनः वज्रेण संपिपेष। ऋ० २।१५।६

१६६ स्त्रियं दुर्हणायुवं वधीः दुहितरं दिवः।
ऋ० ४।३०।८

१६७ दिवः दुहितरं महीयमानां उपासं इन्द्रः
सं पिणक्। ऋ० ४।३०।९

१६८ वृषा यत् सीं निशिश्नथत्।
उषा बिभ्युषी संपिष्टात् अपसरत्।
ऋ० ४।३०।१०

३८६ उषा अनः अजहात्। ऋ० ११७२।४

२३९ एतत् अस्याः अनः शये सुसंपिष्टं विपाश्याः।
ससार सीं परावतः। ऋ० ४।३०।११

' उषाका रथ इन्द्रने वज्रके आघातसे तोड दिया। स्वर्ग-कन्या भी जब वह दुष्ट विचार और दुराचार करने लगी, तब उसका भी उस इन्द्रने वध किया। स्वर्गकन्याका भी रथ उसने चूर्ण चूर्ण कर दिया। जब इन्द्रने उसका रथ तोड दिया, जब वह भयभीत हो गयी और उस टूटे रथसे पीछे हट गयी। उषाने अपना टूटा रथ छोड दिया। यह टूटा हुआ इसका रथ विपाशा नदीके किनारेपर पडा है और उषा वहासे दूर भाग गयी है।'

इस तरह दुराचारमें प्रवृत्त हुई तरुणीको बडा कठोर दण्ड मिला है। यह देखकर कोई स्त्री या पुरुष ऐसा जार कर्म करनेके लिये कभी प्रवृत्त न हो। जब द्युलोककी कन्याको भी ऐसा दण्ड भोगना पडता है, तब अन्योंको दण्ड भोगना पडेगा इसमें संदेह ही क्या है?

इसलिये कोई स्त्री जारसे संबंध न रखे। स्त्रीको सतिधर्मसे चलना चाहिये। पति सेवा परायण होना चाहिये। कभी जारके संपर्कमें नहीं जाना चाहिये। एक पाव इस बुरे मार्गमें गया तो वहांसे स्त्रीपुरुष फिसल ही जाते हैं। एक बार बुरे मार्गमें पांव पडा तो बचना कठिन हो जाता है। इसलिये पहिलेसे ही दक्ष रहना चाहिये। आत्मसंयम करना चाहिये। अपना स्वाधीन आचरण रखना चाहिये। आत्मसंयम ही मानवोंका तारण करनेवाला है।

यहां सर्वत्र अलंकारका वर्णन है। एक बडे कुलमें उत्तम पुत्री हुई वह आगे बढते बढते बहुत अच्छी हुई। आगे दुराचरणमें प्रवृत्त होकर फंस गयी और विनष्ट हुई। इस कथामें सर्वत्र अलंकार होनेपर भी बडे बोध मिलते हैं। जो अच्छा है उसका स्वीकार करना चाहिये और हानिकारक है उसका त्याग करना चाहिये।

वेद अलंकारोंके वर्णनोंसे किस तरह उत्तम बोध देता है, यह इस उषा वर्णनमें पाठकोंको पता लग सकता है। पाठक स्त्री-पुरुष इससे बडा बोध प्राप्त कर सकते हैं।

समाप्त

